॥ ओ३म् ॥

मृत्यु और उस पर विजय

लेखक :

स्व. श्री यशपाल आर्यबंधु

'ओउम्'

स्वर्गीय डा० रामधन ऋषि जी

की पुण्य स्मृति में

सप्रेम भेंट–ऋषि परिवार

सरस्वती साहित्य संस्थान

295, जागृति एन्क्लेव, विकास मार्ग, दिल्ली-92

दूरभाष : 2152435, 2216053।

मृत्यु और उस पर विजय

लेखक : **स्व. श्री यशपाल आर्यबंधु**

प्रेरक : **अरविन्द सहगल** *(प्रचार मंत्री)*
वेद प्रचार मण्डल, मुरादाबाद

द्वितीय संस्करण : वि.सं. २०६३ – 20 मार्च, 2006

मूल्य : **8 रुपये – (Rs. 8)**

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :–
सरस्वती साहित्य संस्थान
295, जागृति एन्क्लेव, विकास मार्ग, दिल्ली-92
दूरभाष : 22152435, 22160531

श्री रवीन्द्र कुमार मेहता द्वारा रामप्रिन्टोग्राफ़, (इण्डिया), दिल्ली से मुद्रित

प्रकाशकीय

सुप्रसिद्ध आर्य विद्वान् एवं प्रभावशाली वक्ता, वैदिक प्रवक्ता स्वर्गीय श्री यशपाल आर्यबंधु द्वारा लिखी गई इस पुस्तक का प्रथम संस्करण लगभग 25 वर्ष पूर्व अक्टूबर 1982 में प्रकाशित हुआ था। प्रकाशन के लगभग बीस वर्षों के अन्तराल पर जब मैंने इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ा तब मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि यह पुस्तक मृत्यु सम्बन्धी अवैदिक मान्यताओं को निर्मूल करने की दिशा में बहुत उपयोगी है तथा पुनः प्रकाशित किये जाने के योग्य है।

लगभग 7-8 माह पूर्व जब मेरी श्रीयुत यशपाल आर्यबंधु जी से भेंट हुई तब मैंने इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त की, जिसके लिए वह सहर्ष तैयार हो गए। उन्होंने एक प्रति में, पुनः प्रकाशनार्थ अपने घर पर आवश्यक संशोधन, परिवर्द्धन किए। वह, मुझे पुस्तक उपलब्ध करा पाते, इससे पूर्व ही 30 अक्टूबर 2005 को हृदयघात के कारण उनका निधन हो गया।

जब उनके सपुत्र श्री अरविन्द सहगल ने अपने घर पर उक्त पुस्तक को देखा, तब 20 फरवरी 2006 को उसे लेकर इसे प्रकाशन के लिए मुझे दी। पुस्तक पाकर मुझे अतीव हर्ष हुआ। प्रस्तुत पुस्तक में जीवन और मृत्यु की पहेली को प्रस्तुत कर उसका वैदिक मान्यतानुसार समाधान ढूंढने का प्रयत्न किया गया है। मृत्यु के स्वरूप की विवेचना एवं उसके भय को जीतने के उपाय बड़े सुन्दर ढंग से बताए गए हैं। यह पुस्तक संतप्त एवं दुःखी दिलों को सांत्वना एवं धैर्य बंधाने के उद्देश्य से लिखी गई है। इस पुस्तक ने, दिवंगत आर्य विद्वान् के परिवार को असीम धैर्य बंधाया है, एवं सम्बल प्रदान किया है, फिर क्यों न अन्यों को धैर्य प्रदान करने में सफल होगी।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःख भाग् भवेत।

विनीतः

—रवीन्द्र मेहता

अध्यक्ष, सरस्वती साहित्य संस्थान
295, जागृति एन्क्लेव, विकास मार्ग, दिल्ली-92

॥ ओ३म् ॥

मृत्यु और उस पर विजय

जीवन और मृत्यु की पहेली

मानव अनादि काल से जीवन और मृत्यु की पहेली को सुलझाने में लगा है। कितना सुलझा पाया है, यह कौन बता सकता है? न जाने ज़िन्दगी और मौत के कितने दस्तावेज़ वह लिख चुका है। पर फिर भी ऐसा लगता है कि जैसे अभी भी वह दास्तां अधूरी ही हो। न जाने वह इसे पूरा कर भी पायेगा या नहीं? फिर भी इतना अवश्य है कि प्रतिक्षण घटने वाला प्रत्येक जन्म तथा प्रत्येक मृत्यु मानव-मस्तिष्क को कुछ सोचने के लिए मजबूर कर देते हैं कि आने वाला कहां से आया और जाने वाला कहां को गया? आश्चर्य तो यह है कि न तो आने वाला ही कुछ बता के देता है कि कहां से आया और न जाने वाला ही कुछ बता के देता है कि कहां को चला गया। लगता है जैसे हर जन्म और हर मृत्यु मानव को चुनौती दे रहा हो कि यदि दम हो तो इस पहेली को हल करके दिखाओ। पर मानव है कि चुप-चाप इस चुनौती को पिये चले जा रहा। मानों उसकी ऊहा ही कुण्ठित हो गई हो। उसका पौरुष ही क्षीण हो गया हो और वह पस्त होकर इस पहेली को सुलझाने में अपनी बेबसी प्रकट कर रहा हो। और समस्या वैसी की वैसी ही बनी है और शायद वैसी बनी भी रहे।

इस सब झमेले में भी एक बात सत्य दिखाई दे रही है। वह यह कि संसार भर के प्राणी मृत्यु के साये तले जीते दिखाई दे रहे हैं। वेद भी **'मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्'** का उद्घोष कर इसी तथ्य को प्रकट कर रहा है। मृत्यु के इस प्रबल शासन में प्राणीमात्र त्रस्त है, भयभीत है। और उनके फौलादी पंजों से छूटना चाहता है। पर लाख हाथ-पैर पटकने पर भी वह इसके लोहपाशों से बच नहीं पाता। मृत्यु का भय प्राणीमात्र को मारे जा रहा है। उसे

ढंग से जीने भी नहीं दे रहा। समझ नहीं आती कि मौत इतनी भयावह क्यों है? जीवन इतना सुहावना क्यों है? पता नहीं प्राणी मरने से क्यों घबराता है? उसे जीने की इतनी लालसा क्यों है? आखिर कोई बात तो अवश्य ही है जो वह मरना नहीं चाहता, सदा जीवित रहना चाहता है।

न जाने यह जन्म और मरण का सिलसिला कब से चला आ रहा है और न जाने कब तक इसी प्रकार चलता रहेगा? किस की व्यवस्था से और कैसे हो रहा है यह? और यह अति भयानक लगने वाली मृत्यु वस्तुतः ऐसी ही भयानक है क्या? क्या यह सर्वथा दुर्जेय है? क्या इस पर विजय पायी ही नहीं जा सकती? विवेकशील प्राणी होने के नाते मानव मस्तिष्क में ऐसे प्रश्न उठने स्वाभाविक है। मैं कहां से आया, क्यों आया और कहां जाना है मुझे? क्या मृत्यु ही मेरा अन्तिम लक्ष्य है? क्या इसके आगे जीवन की परिसमाप्ति है? इतना ही जीवन है जिसके लिए मानव इतना बेचैन रहता है? आदि काल से मानव अपने-अपने ढंग से ऐसी समस्याओं पर विचार करता आया है। सही समाधान मिल जाने पर वह सन्तुष्ट हो जाता है जबकि ग़लत हल उसे और भी अधिक परेशानी एवं उलझन में डाल देता है। आइये! वैदिक दृष्टिकोण से हम भी इस पर थोड़ा विचार करें।

मृत्यु स्वरूप विवेचन

वह मृत्यु कि जिसका नाम सुनते ही प्राणी कांप उठता है, सिहर जाता है, भयभीत हो जाता है, उसका कण्ठ अवरूद्ध होकर रह जाता है एवं उसके होशोहवास उड़ जाते हैं, अन्ततः है क्या? तो आइये! प्रथम भौतिकवादी दृष्टिकोण से इसकी विवेचना की जाये पश्चात् आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी इस पर विचार किया जायेगा। भौतिकवादी मृत्यु की खोज भौतिक कारणों में ही किया करते हैं। कुछ समय पूर्व तक यह लोग सांस के रुक जाने अथवा हृदय गति रुकने को मृत्यु नहीं 'कार्डियक ऐरेस्ट' कहते थे और मानते थे कि मालिश या

बिजली के झटके से रुका हुआ हृदय फिर से चलाया जा सकता है। इसी प्रकार सांस का न चलना भी उनके लिए अब मृत्यु का द्योतक नहीं रहा। कृत्रिम श्वास-यंत्र से श्वसन क्रिया को फिर से चालू किया जा सकता है। सम्प्रति डाक्टर मस्तिष्क की विद्युत तरंगों के रुक जाने को मृत्यु का लक्षण मान रहे हैं। किन्तु साथ में यह भी कह रहे हैं कि निकट भविष्य में रुके तात्पर्य यह है कि भौतिकवादी लोग शरीर की ही किसी गड़बड़ी या अक्रियाशीलता को ही मृत्यु समझते हैं वे ज़िन्दगी और मौत की कुछ ऐसी परिभाषा देते हैं।

ज़िन्दगी क्या है? अनासिर की मुनासिब तरतीब।
मौत क्या है? इन्हीं अजज़ा का बिखर जाना॥

यह तो ठहरा भौतिकवादी दृष्टिकोण। पर आध्यात्मवादी दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। आध्यात्मवादी मान्यता के अनुसार जीवन के सभी लक्षणों की परिसमाप्ति मृत्यु का द्योतक है। अर्थात् मृत्यु जीवन की विपरीत अवस्था का नाम है। फिर जीवन क्या है? और कहां से आया? और समाप्त क्यों हो गया? एवं समाप्त हो जाने पर कहां विलीन हो गया? यही है वह जीवन और मृत्यु की पहेली जिसे हल करने में आदिकाल से मानव एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रहा है।

मृत्यु जब जीवन के सभी लक्षणों की परिसमाप्ति का नाम है तो फिर जीवन क्या है? मृत्यु की भांति जीवन के लिए भी आध्यात्मवादी दृष्टिकोण भौतिकवादी दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है। भौतिकवादी कतिपय भौतिकसम्मिश्रणों से जीवन की उत्पत्ति मानते हैं। पर आध्यात्मवादी, जड़ शरीर और चेतन आत्मा का ईश्वर की व्यवस्था से संयोग को जीवन और उनके वियोग को मृत्यु मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जब चेतन आत्मा का जड़ शरीर के साथ संयोग होता है तो उसमें जीवन के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और जब वियोग होता है तो जीवन के सभी लक्षण समाप्त हो जाते हैं। और इस अवस्था को मृत्यु कहते हैं। यह है आध्यात्मवादी दृष्टिकोण जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में। पर इससे समस्या हल तो नहीं हुई, पहेली सुलझी तो

नहीं अपितु और भी उलझ गयी प्रतीत होती है। पहले तो केवल जीवन और मरण का ही प्रश्न था, अब उसमें जड़ शरीर, चेतन आत्मा, नियंता परमात्मा और आ घुसे हैं। चले तो थे जीवन और मृत्यु की पहेली को सुलझाने, पर नियन्ता ईश्वर, चेतन आत्मा और जड़ शरीर का झमेला और साथ आ गया। पर इनके बिना जीवन और मृत्यु की पहेली का समाधान हो ही नहीं सकता। क्योंकि इन तीनों पदार्थों में से यदि एक की विद्यमानता न हो तो न तो जन्म ही हो सकता है और न ही मृत्यु ही। अतः इस पहेली का यथार्थ समाधान इन तीनों को साथ लेकर चलने से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। तो आइये! इस परिप्रेक्ष्य में जीवन और मृत्यु की पहेली का हल ढूंढने का प्रयत्न करें।

यह तो आप जान ही चुके हैं कि जड़ शरीर के साथ चेतन आत्मा के संयोग का नाम जीवन है और वियोग का नाम मृत्यु है। पर यह संयोग और वियोग स्वतः अपने आप तो नहीं हो जाता। कोई तीसरी शक्ति ही जो इनसे अधिक शक्तिशाली समर्थ तथा सर्वज्ञ है, वही इसकी व्यवस्था करती है। उसी की व्यवस्था से न चाहते हुए भी जीव को हठात् शरीर छोड़ने और फिर दूसरा शरीर धारण करने को बाध्य होना पड़ता है। यह तीनों तत्व ईश्वर, जीव और प्रकृति अनादि हैं। जब जीव का ईश्वर की व्यवस्था से प्रकृति जन्य शरीर से संयोग होता है तो जड़ शरीर में भी चेतना आ जाती है। यही जीवन के लक्षण हैं। और जब शरीर से चेतन आत्मा ईश्वर की व्यवस्था से निकल जाता है तो शरीर पुनः अचेतन अवस्था में आ जाता है। इसी को मृत्यु कहते हैं। स्पष्ट है कि जीवन और मृत्यु आत्मा और शरीर के संयोग वियोग का ही सारा खेल है पर यह खेल कोई स्वेच्छा से नहीं खेलता। यदि स्वेच्छा से यह खेल खेला जाता, तो फिर वियोग होता ही नहीं। पर हम देखते हैं कि बरबस कोई शक्ति हमारा वियोग करा देती है। जो बरबस संयोग वियोग करा रही है, वह शक्ति अवश्य ही इन दोनों से अधिक शक्तिशाली होनी चाहिए।

तभी तो वह उन्हें अपने नियंत्रण में रख सकेगी, यह खेल खिला सकेगी। उसी शक्तिशाली तत्व को नियन्ता परमेश्वर कहते हैं। उसी तत्व के, परमात्मा परमेश्वर आदि अनेक नाम हैं। इसी नियन्ता की व्यवस्था से जीवन शरीर के सभी छिद्र खुले होने पर भी कहीं निकल कर भाग नहीं सकता और वियोग होने पर लाख उपाय करने पर भी इसमें एक क्षण को रुक नहीं सकता। क्या कभी सोचा है आपने कि यह जीवन किन पाशों से बंधा है, जो निकल नहीं भागता और किसने बांध रखे हैं, वे पाश। निश्चय ही नियामक, नियन्ता परमेश्वर ने ही अपनी व्यवस्था एवं अनन्त शक्ति रूपी पाशों से उसे बांध रखा है। वही यह खेल खिला रहा है। पर क्या वह अपने मन बहलाने के लिए यह खेल खिला रहा है या कोई और उद्देश्य है? नहीं मन बहलाव के लिए नहीं अपितु जीवों के कल्याण के लिए सर्वथा निर्लेप भाव से वह यह खेल खिला रहा है। वह यह सारा खेल जीवों के कर्मानुसार खिला रहा है। जीवों के कर्मफल भुगाने एवं आगे के लिए उन्हें कर्म करने के लिए क्षेत्र प्रदान करने के लिए ही उसने यह सारा खेल रच रखा है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि पदार्थों ने मिलकर जीवन और मृत्यु का अनादि चक्र चला रखा है। प्रकृति जड़ है, उसे इसका ज्ञान नहीं, जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्ति वाला है, उसमें सामर्थ्य नहीं। ईश्वर ही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, कर्मफलदाता और नियन्ता नियामक है। जीवन और मृत्यु उसी के रचे खेल हैं।

ज़िन्दगी क्या है? मौत क्या है?

सीधे सादे शब्दों में कहें तो–

"ज़िन्दगी जन्म और मृत्यु के बीच की दूरी है।
जन्म लाचारी है, मौत मजबूरी है॥"

यह जन्म और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिसे हम

जन्म कहते हैं वस्तुतः वह मृत्यु की ओर यात्रा की शुरूआत के अतिरिक्त और कुछ नहीं। तनिक विचारें तो सही कि बालक के उत्पन्न होने के पश्चात् उसकी भोली-भाली ममतामयी मां अपनी मिथ्या मान्यताओं के अनुरूप ज्योतिषी से बालक की आयु के सम्बन्ध में पूछती है कि यह बालक कितना जियेगा? ऐसा कर क्या वह उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में नहीं पूछ रही होती? यह कितना जियेगा? अर्थात् यह कब मरेगा? जन्मते ही मृत्यु की आशंका क्यों? इसीलिए न कि जन्म मृत्यु यात्रा का श्रीगणेश है, शुरुआत है। यदि जन्म मृत्यु यात्रा की शुरुआत है तो फिर मृत्यु क्या है? निश्चय ही वह भी आगामी जीवन के एक पारपत्र लिये के अतिरिक्त और कुछ नहीं। क्योंकि जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी है और मृत्यु के साथ जन्म। न मृत्यु एकाकी है न जन्म एकाकी। गीता के अनुसार जन्म क्या है और मरण क्या है? कुछ नहीं जैसे पुराने कपड़े उतार कर नए कपड़े पहन लेना। यथा–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि ग्रहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता 2/22)

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीर को प्राप्त करता है। **देहात् आत्मनो निष्क्रमण मृत्यु, संयोगश्च जन्म**। अर्थात् शरीर से आत्मा का निकल जाना मृत्यु है। संयोग का नाम जन्म है। कविवर रामनरेश त्रिपाठी ने इन्हीं भावों को निम्न शब्दों में पदबद्ध किया है–

मृत्यु एक सरिता है जिसमें श्रम से कातर जीव नहा कर।
फिर नूतन धारण करता है काया रूपी वस्त्र बहा कर॥

गीता के अनुसार अवस्था परिवर्तन का नाम ही मृत्यु है। जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था नियम पूर्वक आती हैं और शरीर में परिवर्तन आता है इसी प्रकार अगला

परिवर्तन मृत्यु है।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ *(गीता 2/13)*

इस प्रकार मृत्यु एक पड़ाव है, विश्रामस्थल है। जहां से जीव फिर नयी यात्रा प्रारम्भ करता है। तभी 'जोश' साहब फ़रमाते हैं कि–

मौत इक ज़िन्दगी का वकफ़ा है, यानी आगे चलेंगे दम लेकर

जबकि जिगर मुरादाबादी का कथन है कि–

जिन्दगी इक हादिसा है और कैसा हादिसा?

मौत से भी खत्म जिसका सिलसिला होता नहीं।

खत्म होगा न ज़िन्दगी का सफ़र, मौत बस रास्ता बदलती है निरुक्तकार यास्क के अनुसार–**मारयति इति मृत्यु**–उच्छेदन करता है, वह मृत्यु है।

मुंचति इति मृत्यु–मोचन करता है वह मृत्यु है।

सुप्रसिद्ध आर्य वैज्ञानिक डॉ. सत्यप्रकाश सरस्वती के अनुसार–Death is a door beween two lives the present one and the next one. अर्थात् मृत्यु दो जीवनों के बीच का द्वार है। यानी वर्तमान और भावी जीवन के बीच का द्वार है। इसी प्रकार कोलटन महोदय का भी कथन है–"What we call life is journey to death and what we call death is a pasport to life." अर्थात् जिसे हम जीवन कहते हैं–वह मृत्यु की ओर यात्रा है और जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह जीवन का पार पत्र है। अन्त सदा आदि से जुड़ा होता है। मृत्यु जीवन से उतनी ही जुड़ी है जितना कि जन्म। डॉ. यंग ठीक ही तो लिखते हैं कि–"Our birth is nothing but our death begun." अर्थात् हमारा जन्म मृत्यु की शुरूआत के सिवा और कुछ भी नहीं। गीता का भी यही कथन है कि **"जातस्य ध्रुवोमृत्यु ध्रुवः जन्म मृतसय च।"** अर्थात् जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मृत्यु को प्राप्त हुआ

है उसका जन्म निश्चित है। कविवर दिनकर का यथार्थ कथन है कि–

कफ़न और पोशाक छटी की दोनों एक वसन हैं,
पता नहीं हम मरते हैं या जन्म नया लेते हैं।

मृत्यु अवश्यम्भावी है

जो उगा सो काटिये, फूला सो कुम्लाये।
जो बना सो गिर पड़े, जो आया सो जाये॥

"**मरणं प्रकृति शीरिणां**" के अनुसार प्राणी स्वभावतः मरणशील है। "**मरणान्तम हिं जीवितम्**" अर्थात् जीवितों का अन्त मृत्यु में निश्चित है। महात्मा विदुर के अनुसार समस्त उत्थानों का अन्त उसके अधःपतन में ही है, भौतिक उन्नति की समाप्ति उसके क्षय में ही है। समस्त संयोगों का अन्त वियोगों में ही है। अतः मृत्यु अवश्यम्भावी है। जीवन का उद्गम भी मृत्यु से ही है और उसका अवसान भी मृत्यु में ही है। रात्रि में गर्भ से ही दिन का उदय होता है और रात्रि के गर्भ में ही उसका अवसान भी होता है। इसी प्रकार जीवन भी मृत्यु की कोख से उत्पन्न होता है और उस का अन्त भी इसी में ही हो जाता है। जिस प्रकार मृत्यु सुनिश्चित है उसी प्रकार जन्म भी सुनिश्चित है। गीता केवल मृत्यु की अवश्म्भविता की बात नहीं कहती जन्म की अवश्यम्भविता का भी प्रतिपादन करती है। पर हमारा चिन्तन प्रायः नकारात्मक (Negative) होने से हम मृत्यु के निश्चित होने की बात कहते हैं, जन्म के निश्चित होने की बात नहीं। अतः कहना होगा कि केवल मृत्यु ही नहीं जन्म भी अवश्यम्भावी है।

जीवन क्षणभंगुर है

जीवन क्षणभंगुर है। जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं। मौत किस समय आ धमके, इसका कुछ पता नहीं। आदमी घर से कुछ सोचकर निकलता है, दो पग चल भी नहीं पाता कि काल कराल के गाल में

चला जाता है। कोई भाषण दे रहा होता है, मुंह खुले का खुला रह जाता है और प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। अपने पुत्र को उसकी किसी दुष्टता पर डांटते हुए पिता का हाथ उठता है पर हाथ उठा का उठा ही रह जाता है और डांटने वाला चल बसता है। रात्रि को सुख चैन की नींद व्यक्ति सोता है, पर प्रातः सूर्य के दर्शन ही नहीं कर पाता। ऐसी घटनायें नित्य प्रति घटती रहती है जिन्हें देखकर बरबस मुख से यही निकलता है कि–

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं,
सामान सौ बरस का पल की ख़बर नहीं।

और–

पांव पलक की सुध नहीं, करे काल को साज,
काल अचानक मारिहै, ज्यों तीतर को बाज़।

बिहार में भूकम्प आने से पूर्व लोग दिन के समय अपने कार्यों में व्यस्त थे। तभी एक ऐसा झटका आया कि जिसने सहस्रों को मृत्यु की गोद में सुला दिया। विशाल अट्टालिकायें भूमि पर लोटने लगीं। हंसते बालक चिल्ला उठे। चारों ओर भूमि पर चीख़ पुकार की आवाज़ें आने लग पड़ीं। देखते ही देखते यह क्या हो गया? जब मलबा उठाया गया तो अनेकों ऐसी लाशें मिलीं कि जो साइकिलों पर सवार पाई गईं। उन्हें मौत ने इतना भी समय न दिया कि साईकिल से उतर सकते। एक मकान की खुदाई में दो लाशें मिलीं कि देखने वाला ही द्रवित हो जाए। मां बच्चे को गोद में लिये स्नान करा रही थी। साबुन की टिकिया उसके हाथ में थी तभी भूकम्प आया और वैसी की वैसी ही दब गई। न साबुन नीचे रख सकी, न पानी का मग्गा कि प्राण निकल गये। अतः यही कहना पड़ता है कि–

क्या भरोसा है ज़िन्दगानी का, आदमी बुलबुला है पानी का।

वस्तुतः आदमी का जीवन क्या है? पानी का एक बुलबुला है और बुलबुले का क्या भरोसा है कि कब विलीन हो जाए।

सत्य है—

“नौ द्वारों का पिंजरा ता में पंछी पौन,
रहने में अचरज बड़ा गये अचम्भा कौन?”

नौ द्वारों वाले इस देह रूपी पिंजरे में पंछी कब उड़ जायेगा, यह कोई नहीं जानता। किसी कवि के निम्न पद इसी बात के द्योतक हैं।

कर ले यत्न हज़ार तोता उड़ जाना।
यह तोता है बड़ा अनोखा, इक दिन देवे जरूरी धोखा।
क्या सोता चादर तान, तोता उड़ जाना....
इस तोते का नहीं ठिकाना, इसने निकल ज़रूरी जाना।
चाहे रो-रो हो हैरान, तोता उड़ जाना....
जब पिंजड़े से उड़कर जावे, पकड़ो कितना हाथ न आवे।
लम्बी भरे उड़ान, तोता उड़ जाना......
योगी जनों ने ज़ोर लगाया, नहीं किसी ने काबू पाया।
हो गया सब बेकार, तोता उड़ जाना......
इससे भाइयों ओम् उचारो, ओम् नाम हृदय में धारो।
हो जाये बेड़ा पार, तोता उड़ जाना.....

ईश्वर की व्यवस्था तो देखिये कि आंख, कान, नाक, मुंह आदि नौ के नौ द्वार खुले होने पर भी जीव निकल नहीं सकता है और जब निकलने को आता है तो चाहे इन सब द्वारों को ठूंस ठूंस कर बन्द कर दीजिए, निकलने वाला निकल ही जाता है। सत्य है—

“आस-पास योद्धा खड़े, सभी बजावें गाल।
मंझ महल से ले चला ऐसा काल कराल।”

और जब कोई निकट सम्बन्धी अति निकट से उठकर चला जाता है तो बरबस मुख से यही निकलता है कि—

“न हाथ पकड़ सके, न थाम सके दामन।
बड़े करीब से उठा कर चला गया कोई।”

हमारा रोम-रोम मृत्यु ने जकड़ रखा है। पता नहीं अगला श्वांस

आयेगा भी कि नहीं। वस्तुतः–

"मौत से किसकी रस्तगारी है, आज वह, कल हमारी बारी है।।

चाहे बूढ़ा हो या जवान, शिशु हो या बालक, राजा हो या रंक। विद्वान् हो या बलवान् सभी मृत्यु के साये तले जी रहे हैं। सन्त कवि कबीर ठीक ही कहते हैं–

''माली आवत देख कर कलियां करें पुकार।
फूली-फूली बीन ली, कल हमारी बार॥
झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥

सत्य तो यह है कि–

जब बशर मौत के पंजे में गिरफ्तार हुआ,
न कोई पेश चली, उज़र न कोई इन्कार हुआ।
यार लाख थे जाहिद अपने,
अन्त समय कोई न मददगार हुआ॥

महान् आश्चर्य?

यह जानते हुए भी कि शरीर क्षणभंगुर है एवं इसका कोई भरोसा नहीं, हम ऐसा जीवन जीते हैं कि जैसे हम यहां सदा रहने के लिए आए हों। लगता है कि जैसे–

"यह जानते हुए भी कि तुम बावफ़ा नहीं,
फिर भी ऐ उम्र साथ दिए जा रहा हूं मैं।"

कितना बड़ा आश्चर्य है कि प्रतिक्षण प्राणियों को मृत्यु का ग्रास बनते देखकर भी हम अपने बारे में यह मानने को तैयार नहीं कि हमें भी कभी मृत्यु का ग्रास बनना होगा। संसार में महानतम आश्चर्य का उत्तर देते हुए धर्मराज युधिष्ठिर ने ठीक ही तो कहा था कि–*अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यम मन्दिरम्। शेषा स्थावर मिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम।* अर्थात् प्रतिदिन प्राणी मृत्यु को प्राप्त होते हैं किन्तु फिर भी शेष लोग स्थिरता की इच्छा करते हैं, फिर इससे बढ़कर और आश्चर्य

क्या हो सकता है। आज हम संसार के सात महान् आश्चर्यों की चर्चा करते नहीं थकते, पर इससे बढ़कर भी कोई आश्चर्य हो सकता है कि नित्य प्रति मृत्यु को झपटते देखते हुए भी हम मृत्यु के प्रति सर्वथा उदासीन हुए बैठे हैं। अड़ोस-पड़ोस में चोरी होने पर भी व्यक्ति अपने घर की सुरक्षा की व्यवस्था करता है, पर यहां घर के बीच में से, सभी के सामने मौत अपने प्रिय जनों को उठाकर ले जाती है, इस पर भी अपनी सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं करता। दिन-दिन आयु घटती जाती है, पर हम हैं कि इसकी कोई चिन्ता ही नहीं। वस्तुतः हम सब *"किश्ती-ए-उम्र रवां पर सवार बैठे हैं, सवार ख़ाक हैं, बेइख़्तियार बैठे हैं।"*

मरना कोई नहीं चाहता

मृत्यु अवश्यम्भावी है। उससे कोई बच नहीं पाता। इस पर भी मरना कोई नहीं चाहता। प्राणीमात्र में यह स्वभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है कि मृत्यु के नाम से वह घबराता है। आनन्द का केन्द्र बिन्दु (जिजीविषा) जीने की इच्छा है। यही कारण है कि मानव के अन्दर स्वभावतः जीने की उत्कृष्ट अभिलाषा है। केवल मानव ही नहीं, प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है और मृत्यु से अन्तिम क्षण तक संघर्ष करता रहता है। यह और बात है कि मनुष्यों के अलावा अन्य प्राणी उतना संघर्ष न कर सकते हों जितना कि मनुष्य कर सकता है।, पर मृत्यु से संघर्ष प्रत्येक प्राणी करता हैं मानव जो प्राणियों का सिरमौर माना जाता है, वह तो सृष्टि के प्रारम्भ से ही जिस क्षण से वह भूतल पर अवतरित हुआ था, उसने प्रथम श्वास लिया था, तभी से आज तक इससे जूझता चला आया है। मानव जाति का सम्पूर्ण इतिहास जिस एक केन्द्र बिन्दु के चारों ओर अहिर्निश चक्रवत् घूम रहा है और शायद अनन्त काल तक अविश्रान्त रूप से घूमता भी रहेगा—वह है मृत्यु पर विजय पाने की उसकी उत्कट लालसा। वह मरना नहीं चाहता। मृत्यु को अपने से दूर रखना चाहता है। यही कारण है कि

वह श्मशान भी दूर बनाता है। वह मृत्यु के सम्बन्ध में सोचना भी नहीं चाहता। संसार भर के प्रसिद्ध चिकित्सा संस्थानों के सुप्रसिद्ध चिकित्सकों का, जो नित्य प्रति रोगियों को काल-कराल के मुख में जाते हुए अति निकट से देखा करते हैं, यही कहना है कि मरना कोई नहीं चाहता। अनेकों कष्टों के रहते हुए, उन्हें सहन करते हुए भी वह जीना चाहता है। भले ही मुख से वह कभी-कभी हताश और निराश होकर यह कह दे कि इस जीवन से तो मर जाना ही अच्छा है, पर वस्तुतः वह मरना नहीं चाहता। सामान्य स्वस्थ व्यक्ति ही नहीं, असाध्य, दुर्दान्त कष्टदायक अति भयंकर रोगों से पीड़ित व्यक्ति भी अत्यन्त असहाय कष्टों एवं पीड़ाओं के रहते हुए भी मरना नहीं चाहता। विपरीत इसके ज्यों-ज्यों मृत्यु निकट आती प्रतीत होती, है, उसके जीने की लालसा उत्कृष्ट रूप धारण करती जाती है। वह यदि बोलने में समर्थ हो, तो अत्यन्त करूणा भरी वाणी में गिड़गिड़ा कर अन्यथा करूणा भरी दृष्टि अथवा अन्य हावभावों से डाक्टरों से यही कहता है कि जैसे भी हो मुझे बचा लो।

स्पष्ट है कि मरना कोई नहीं चाहता। चाहिए भी नहीं। क्योंकि वेद में सौ वर्ष तक अथवा उससे भी अधिक जीने की इच्छा करने की प्रार्थना का तो विधान है, मरने की इच्छा का नहीं। अतः जिजीविषा अर्थात् जीने की इच्छा करना कोई बुरी बात नहीं। बुरी तो तब बन जाती है कि जब मृत्यु लेने को आई हो, वह सिरहाने खड़ी हो और हम जाने को तैयार न हों। यह जीने की इच्छा तब और भी बुरी बन जाती है कि जब मरणासन्न व्यक्ति को अमर-जड़ी की तलाश में अन्ध-विश्वासों का दरवाज़ा खटखटाने को बाध्य कर देती है। कबरों पर माथा रगड़ना तथा झाड़-फूंक के अतिरिक्त प्राणरक्षा के लिए विभिन्न पशु-पक्षियों के मांस अण्डा आदि का सेवन तो सामान्य बात है मृत्यु से बचने के लिए कभी-कभी अकाल आदि में अपने बच्चों तक का मांस भून-भूनकर खाने तक की घटनायें भी सुनी गई हैं। आस्ट्रेलिया के एक कुष्ट रोग से पीड़ित राजा को अपने जीवन से

वह दुःखी भी होता है। वह भूल जाता है कि आत्मा तो अजर अमर है। "नैंन छिन्दन्ति शस्त्राणि नेनं दहति पावकः न चैनंक्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।" गीता के इस कथनानुसार न शास्त्र द्वारा यह काटा जा सकता है, न आग इसे जला सकता है, न पानी इसे गला सकता है और न वायु इसे सुखा सकता है। आत्मा की अमरता के रहस्य को कठोपनिषद् में बड़े सुन्दर ढंग से दर्शाया गया है। यमाचार्य नचिकेता को इस रहस्य को समझाते हुए कहते हैं कि—न जायते म्रियते वा विपश्चिन् नायं कुतश्चिन्, बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं। पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे। अर्थात् यह चेतन जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है, न कभी पहले हुआ था और न कभी होगा। यह अजन्मा, नित्य, निरन्तर और पुरातन है। शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरता। तात्पर्य यह है कि इन्हीं भावों को मृत्यु लगी है और आत्मा अमर है। गीता में भी इन्हीं भावों को थोड़े शब्दों के हेर फेर से कहा गया है। यथा—न जायते म्रियते कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शश्वतोऽयं पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे। (गीता 2/20)

छान्दोग्योपनिषद् में इन्द्र तथा विरोचन के प्रजापति से हुए संवाद का सार भी यही है कि यह आत्मा शरीर से भिन्न नित्य चेतन सत्ता है। शरीर के साथ मृत्यु भी लगी है पर आत्मा अमर है। यह शरीर इस अमृत न मरने वाले अविनाशी और अशरीरी निराकार आत्मा का अधिष्ठान है। जब आत्मा इस मर्त्य शरीर के साथ सम्पृक्त होता है हमको सुख दुःख तथा प्रिय अप्रिय की अनुभूति होती है। उपनिषद् का ऋषि कहता है कि **जीवापेतं वाप किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।** अर्थात् जीव नहीं मरता। जब जीव निकल जाता है तो यह शरीर मर जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं कि—**न वा अरेऽह मोह ब्रीवभ्यविनाशी वा, अरेऽमात्मानुच्छित्ति धर्मा।** *बृहद. 4/5/14* अरे मैं व्यर्थ बात नहीं कहता। यह आत्मा अविनाशी है। उसका खण्डन नहीं हो सकता।

वेद आत्मा को अमृत अर्थात् न मरने वाला और शरीर को अन्ततः भस्म होने वाला बताता है। यथा—**वायुरनिलमअमृत मथेदं भस्मातृथ्रु शरीरम्। ओ३म् क्रतो स्मर क्लिवे स्मर कृतं स्मर** *(यजु. 40/15)* और ऋग्वेद में इसके सम्बन्ध में आता है कि—**अहंमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनम्। न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन।** *(10/48/5)* अर्थात् मैं इन्द्र हूं मेरा धन मुझे पराजित करके कोई छीन नहीं सकता। मैं अपने ऐश्वर्य के कारण कभी पराजित नहीं हो सकता। मैं कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता। अथर्ववेद में भी आया है कि **इयं कल्याणण्यंजरा मर्त्यस्यामृता गृहे। यस्मैकृताश्ये स यश्चकार जजाहर सः।** *(10/8/26)* अर्थात् कल्याण करने वाला यह आत्म देवता अमर है और मर्त्य प्राणियों के घर अर्थात् शरीर में रहता है। जिसे आत्मबोध हो जाता है। वह सुख प्राप्त करता है जो पुरुषार्थ करता है वह स्तुति करने योग्य बनता है।

पूर्व के पृष्ठों में हमने प्राणीमात्र को मृत्यु के साये तले जीने की बात लिखी है। दो पायों और चौपायों सभी पर मृत्यु का शासन है। पर मृत्यु का यह शासन शरीर पर है, अमर आत्मा पर नहीं। आत्मा को पराजित करने की सामर्थ्य मृत्यु में नहीं। प्रसिद्ध पाश्चात्य कवि ड्राइडन (Dryden) का भी ऐसा ही कथन है कि—Death has no power the immortal soul to slay. अर्थात् इस अमर आत्मा का वध करने की सामर्थ्य मृत्यु में भी नहीं है। कालरिज (Colridge) ठीक ही कहते हैं कि—Dust Thou art, to dust returnest was not spoken of the soul अर्थात् माटी माटी में मिल जायेगी, यह बात आत्मा के लिए नहीं कही गई है। स्पष्ट है कि मृत्यु शरीर की होती है आत्मा की नहीं। जो जन्मा है वही तो मरेगा, जो जन्मा ही नहीं तो वह मरेगा क्या?

जब मृत्यु अवश्यम्भावी है तो फिर मृत्यु पर विजय कैसी?

जब मृत्यु अवश्यम्भावी है तो फिर मृत्यु पर विजय कैसी? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। उत्तर में हमारा निवेदन है कि इसमें तो

कोई संशय नहीं है कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु भी सुनिश्चित है। मृत्यु को कोई टाल नहीं सका और न वह टाली ही जा सकती है। प्राणीमात्र मृत्यु के साये तले जी रहे हैं। सर्वत्र मृत्यु का शासन है। पर मृत्यु का यह शासन शरीर पर है, आत्मा पर नहीं। आत्मा अमर है जो कभी मरता नहीं। अज्ञानवश वह अपने को मरणधर्मा समझे बैठे है। मृत्यु के भय से वह भयभीत हो रहा है। उसका यह भय सर्वथा अकारण है। भय के वशीभूत होना ही जीव की मृत्यु है। इसी पर उसे विजय पानी है। मृत्यु भय पर विजय पाना ही वस्तुतः मृत्यु पर विजय है। अतः विवेकशील प्राणी का यह कर्तव्य है कि वह अकारण मृत्यु से भयभीत न हो। उसके यथार्थ स्वरूप को जाने और उन उपायों की खोज करे कि जिनसे मृत्यु के भय से निवृत्ति हो सकती है। यही मृत्यु पर विजय है।

हम मृत्यु को कैसे स्वीकार करते हैं, यह हमारे जीवन साधना और ज्ञान की परीक्षा है। हम इस परीक्षा में खरे उतरें यह हमारा कर्तव्य है। यदि हम मृत्यु का निर्भय होकर स्वागत करते हैं तो निश्चय ही हमारी मृत्यु पर विजय है और यदि हम ऐसा नहीं कर सके तो हम मृत्यु के हाथों पराजित हो जायेंगे। हम मृत्यु से पराजित न हों, अपितु उसे पराजित कर दें। ऐसी हमारी जीवन साधना होनी चाहिए। इसके लिए ज्ञान की, विवेक की और सतत् साधना की आवश्यकता है। यदि हम कर सके तो मृत्यु पर विजय कोई मुश्किल नहीं। इसके लिए मृत्यु के भय की समीक्षा करनी आवश्यक है। अतः आइये! प्रथम मृत्यु के भय की विवेचना कर ली जाये।

मृत्यु का भय (अभिनिवेश)

मृत्यु का भय जिसे शास्त्र में जीव को बांधने वाले पांच क्लेषों में से एक बताया गया है, सबसे अधिक व्यापक तथा जीवों में समान रूप से पाया जाता है। अभिनिवेश के विषय में योगदर्शन में आता है कि "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा मूढ़ोऽभिनिवेशः' विवेकी पुरुष को

भी मूर्ख के समान वासना के बल से होने वाले मरणमय को अभिनिवेश कहते हैं। अर्थात् अभिनिवेश वह क्लेश है जो सब प्राणियों में समान रूप से पाया जाता है। महर्षि दयानन्द की मान्यता है कि इस क्लेश को अभिनिवेश इसलिए कहते हैं कि यह विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्र जन्तुओं में भी समान रूप से दीख पड़ता है। इसीलिए इसे भयराज कहा जाता है। मृत्यु के भय से बढ़कर संसार में और कोई भय नहीं। हमारे सारे कार्य कलाप मृत्यु से बचने के लिए ही हैं। हम उत्तम भोजन करते हैं ताकि मृत्यु का ग्रास न बने। औषध सेवन करते हैं कि मृत्यु के मुख में जाने से बच जायें। वस्त्रों से शरीर ढकते हैं कि कहीं सर्दी गर्मी के कारण बीमार पड़कर मृत्यु को निमन्त्रण नहीं दे डालें। तात्पर्य यह है कि हमारे अधिकतर कार्य मृत्यु से बचने के लिए ही होते हैं। मृत्यु का भय प्राणीमात्र को हर समय सताये रहता है। अंग्रेजी के किसी विद्वान् का यथार्थ कथन है कि Some people are so afraid to die that they seldom begin to live. अर्थात् कुछ लोग मृत्यु से इतने भयभीत रहते हैं कि वे ढंग से जीना प्रारम्भ भी नहीं कर पाते। भय की प्रवृत्ति सभी प्राणियों में कमोवेश पाई जाती है। चाहे वह किसी श्रेणी अथवा जाति का ही क्यों न हो। सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या ईसा मसीह जैसा महान् व्यक्ति भी मृत्यु के निकट जाने पर ईश्वर से यही प्रार्थना करता है कि–'ऐ खुदा! ऐ मेरे खुदा! हो सके तो यह मौत का प्याला मेरे सामने से हटा दे।'

आप अस्पतालों में जाकर देखें वहां प्रत्येक रोगी मृत्यु के भय से त्रस्त दीखेगा। बड़े-बड़े वीर योद्धा मृत्यु के नाम से थर्रा जाते हैं। वस्तुतः मृत्यु का भय सभी भयों से प्रमुख है। इसी भय पर विजय पाना मृत्यु पर विजय पाना है।

पर क्या वस्तुतः मृत्यु भयानक है?

प्रायः ऐसा ही समझा जाता है कि मृत्यु अति भयानक होती है।

और ऐसा समझे जाने का मुख्य कारण मृत्यु का अयथार्थ अवैदिक स्वरूप का प्रस्तुतीकरण ही है। पौराणिक तथा प्रायः अन्य सभी अवैदिक मतों में इसे महाभयंकर रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसीलिए कोई भी व्यक्ति जब स्वप्न में भी मृत्यु की कल्पना करता है तो कांप उठता है। मानों विकराल आंखों से लाल लाल डोरे आग बरसा रहे हों। काला स्याह रंग, पतले तथा लम्बे हाथ पैर आदि, लम्बी जीभ, बिखरे बाल, भयानक दांत आदि युक्त रौद्र रूप वाली, अति क्रूर, अति भयानक कि जिसकी कोई कल्पना ही न कर सके। उसके पंजे इतने शक्तिशाली कि जब पकड़ लें तो छुड़ाना मुश्किल। शिकंजे में कसे शिकार की भांति प्राणी छटपटा कर छूटना चाहता है, पर छूट नहीं पाता। तब से जंजीरों से बांधकर आंधें मुंह घसीटते हुए, गर्म-गर्म सलाखों से मारते पीटते हुए, भूखे-प्यासे तड़पा तड़पा कर यातनायें देते हुए यमलोक ले जाया जाता है। और न जाने फिर वहां कैसी कैसी और कितनी यातनायें उसे दी जाती हैं। यह है मृत्यु का वह स्वरूप जो बहुधा संसार के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। हमारा सुदृढ़ मत एवं पक्का विश्वास है कि यह मृत्यु का वास्तविक स्वरूप नहीं, नितांत काल्पनिक एवं कपोल कल्पित मिथ्या स्वरूप है। वेद मृत्यु के इस स्वरूप का समर्थन नहीं करता। वेद का यम भी पौराणिक यम के सदृश कोई महाभयंकर शरीर धारी दैत्य नहीं। न ही उसके कोई महाभयंकर गण अथवा यमदूत ही हैं। न ही वैसे कपोल कल्पित महाभयंकर अस्त्र-शस्त्र जिन से प्राणियों को यातना देने की बात कही जाती है। सत्य तो यह है कि जिस शरीर पर यह भौतिक जंजीर आदि बांधे जाने की बात कही जाती है, उसे तो मरणोपरान्त हम स्वयं अपने हाथों अग्नि में जलाकर भस्म कर आते हैं। फिर जंजीर से किसे बांधा जाता है? जिसका कोई मुंह ही नहीं रहा, उसे औधें मुंह ले जाने की बात कैसी? भला पार्थिव शरीर से अमर आत्मा को निकलते किसने देखा है? कौन उसे पकड़ सका है यदि उसका कोई आकार होता, कोई स्वरूप होता तो फिर उसे कोई

निकल कर भागने ही क्यों देता? अतः मृत्यु का यह भयानक स्वरूप एक निराधार मिथ्या कल्पना है।

वेद मृत्यु को चेताने वाला तो कहता है पर भयानक नहीं। यथा—"मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेताः।" अर्थात् मृत्यु यम नामक नियामक परमेश्वर का चेताने वाला दूत है। यम का यह दूत हमें किस प्रकार चेताता है यह जान लेना भी उचित होगा। विषय वासनाओं से मोहित प्राणी जब कुकर्मों की कीचड़ में फंस जाता है और उसे नियामक प्रभु का कुछ भी भय नहीं रहता तो यम का यह दूत मृत्यु उसे चेताने के लिए आता है। जैसा कि महर्षि दयानन्द कहते हैं कि जो जीव यह विचार करेगा कि मुझे मरना अवश्य है। अतः मुझे पाप कर्म नहीं करने चाहिए, वह जीव सदा विचारपूर्वक ही कर्म करेगा और कभी भी पापों में लिप्त न होगा। कबीरदास ठीक ही कहते हैं कि—

कबिरा गर्व न कीजिए काल गहे कर केस।
न जाने कित मारिहैं क्या घर क्या परदेश॥

तनिक विचारें तो सही कि जिस मृत्यु के स्मरण मात्र से हम विचारपूर्वक कर्म करने को उद्यत हो जाते हैं, उसके समुपस्थित होजाने पर हम पाप पंक में कैसे गिर सकते हैं अतः मृत्यु स्मरण रखने योग्य वस्तु है। कवि का निम्न कथन सर्वथा यथार्थ ही है—

दो बातों को याद रख जो चाहे कल्याण।
नारायण इक मौत को, दूजे श्री भगवान॥

अतः जो मृत्यु स्मरण करने योग्य हो वह भला भयानक कैसे हो सकती है?

मृत्यु भयानक नहीं

तत्ववेत्ता ऋषियों, मुनियों और मनीषियों का अनुभव यही है कि मृत्यु भयानक नहीं होती। वह तो थके यात्री को विश्राम देने के लिए आती है। सन्त विनोबाभावे का कथन है कि—"**दिन भर काम करके**

जब हम थक जाते हैं तब थकान मिटाने के लिए हम सो जाते हैं। निन्द्रा में इन्द्रियों को विश्रान्ति मिल जाती है। स्वप्न न आये तो मन को भी विश्रान्ति मिल जाती है। शरीर को तो मिलती ही है लेकिन प्राण बेचारा चौबीसों घंटे काम करता रहता है, इसीलिए उसकी थकान बनी रहती है। जो मृत्यु से ही मिटती है। अतएव मृत्यु प्राण को आराम देने की एक योजना है।" दिन भर कामकाज में व्यस्त रहने के कारण हम थके मांदे निद्रा देवी की गोदी में विश्रान्ति पाते हैं। रात भर पूर्ण विश्राम करने के पश्चात् प्रातः नवीन स्फूर्ति, नवीन शक्ति और नवीन उत्साह के साथ पुनः अपने काम-काज में जुट जाते हैं। निद्रा हमारी क्लान्ति को मिटाती है और हमें शक्ति, स्फूर्ति और उत्साह प्रदान करती है। मृत्यु भी एक शक्तिदायनी निद्रा है। जीवन भर की दौड़ धूप से क्लान्त, परेशान, थक-थकाकर जब शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, तब मृत्यु रूपी महानिद्रा की गोद में सोने के लिए चले जाते हैं और फिर नवीन जन्म धारण करने पर पुनः एक सुन्दर, स्वस्थ शिशु के रूप में नवजीवन एवं नवीन उत्साह और उमंग लिए हुए हम जगते हैं। सोचें तो सही कि एक नई जिन्दगी देने वाली, एक नया जीवन देने वाली मृत्यु भला भयानक कैसे हो सकती है? आचार्य श्रीराम शर्मा ठीक ही कहते हैं कि – 'मृत्यु मानो छुट्टी मनाना है। लोग अपने काम से छुट्टी लेकर नदी, समुद्र में गोता लगाने सैर-सपाटे करने जाते हैं। मृत्यु द्वारा भी हम अनन्त जीवन के समुद्र में गोता लगाने, एक सुरम्य प्रदेश की यात्रा करने जाते हैं। जिसकी कल्पना भी हम नहीं कर पाते। मरण एक महायात्रा है, महाप्रस्थान है, महानिद्रा है। जीवन और जगत के कार्य-व्यापार से विरत होकर एक लम्बी छुट्टी मनाना है।" वस्तुतः मृत्यु सब दुःखों, कष्टों, क्लेशों, रोगों, पीड़ाओं, महामारियों आदि से छुड़ाने वाला है। ऐसी मृत्यु तो स्वागत योग्य है, भयानक नहीं।

लाओत्जे का कथन है कि—"मृत्यु से भय की बात को लोगों ने यूं ही बतंगड़ बना रखा है। अनिवार्य से डर तो सन्निपात ही है।

जब दुनिया में आने से भय नहीं तो जाने से भय क्यों हो? सराय को पुश्तैनी मकान समझ लेना कौन सी अकलमंदी है? आलेवर काम का कथन है कि– "मृत्यु तो खामोशी है, निस्तब्धता है। उससे भय क्यों? भय तो कोलाहल से होता है। शोर का सर्प सहस्रों जीभों से हमारी आपकी ज़िन्दगी के दूध को चाटता है।" इसी प्रकार यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात का कथन है कि– "जब हम मृत्यु का भय करते हैं, तब हम अपने को उससे डरने के लिए बुद्धिमान समझते हैं किन्तु वास्तव में वह मृत्यु के बारे में कुछ नहीं जानते क्योंकि मनुष्य के लिए सबसे बड़ी भलाई मृत्यु ही है। किन्तु वे उससे डरते हैं और यह समझते हैं कि मानों मृत्यु सबसे बड़ी विपत्ति है। और यह समझना कि मृत्यु भयंकर विपत्ति है, क्या लज्जा जनक मूर्खता से कम है? जो व्यक्ति मरने से डरता है वह ज्ञान का प्रेमी नहीं है। किन्तु अपने शरीर का प्रेमी है। वह कदाचित धन का या नाम का या दोनों का प्रेमी है। सुकरात से जब पूछा गया कि आप को मृत्यु से भय क्यों नहीं लगता? तो वे उत्तर देते हैं कि मुझे बड़ा आनन्द आ रहा है कि मेरी आत्मा पांच भौतिक शरीर के पिंजड़े से मुक्त होगी।" शायद इसीलिए मिल्टन नेकहा था कि–मृत्यु वह सोने की चाबी है जो अमरत्व के भवन को खोल देती है।" वाल्ट व्हिटमैन के विचार में मृत्यु से अधिक सुन्दर घटना और कोई नहीं है। जबकि चार्ल्स फ्राहमैंन के मत में–"मृत्यु से डरना क्यों? यह तो जीवन का सर्वोच्च साहसिक अभियान है।" कबीर दास जी तो मृत्य में आनन्द मनाने की बात कहते हैं। **"जा मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द, कब मरिये कब पाइये पूरन परमानन्द।"** महर्षि दयानन्द भी मृत्यु से डरना मूर्खों का काम बताते हैं। महात्मा गांधी तो यहां तक लिखते हैं कि– "मैं मृत्यु को भयानक नहीं समझता। विवाह भयानक हो सकता है, पर मृत्यु नहीं।" आर्य दार्शनिक पंडित गंगा प्रसाद उपाध्याय के शब्दों में–"मृत्यु के निमित्त अत्यन्त भयानक होने

पर भी मृत्यु स्वयं इतनी भयानक नहीं होती। भयानकता मृत्यु के इस पार है, उस पार नहीं। अतः स्पष्ट है कि मृत्यु भयानक नहीं होती।

गीता में कहा गया है कि मृत्यु वस्त्र बदलने के सदृश्य है। अतः जब मृत्यु वस्त्र बदलने के सदृश्य है तो फिर डर कैसा? फिर तो सही कहा जायेगा कि—

मरने की नहीं मुझको भय है, इसमें मेरा कुछ नहीं क्षय है।
जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को तज कर नूतन वस्त्रों का परिणय है॥

अतः राम नरेश त्रिपाठी के शब्दों में ही—

निर्भय स्वागत करो मृत्यु का, मृत्यु है एक विश्राम स्थल।
जीव यहां से फिर चलता है, धारण कर नव जीवन संबल॥

सत्य तो यह है कि जब इक न इक दिन जाना ही है, तो मौत से डरना क्या? क्योंकि—"उम्र फ़ानी है तो मौत से डरना क्या, इक न इक रोज़ यह हंगामा हुआ रखा है।" योगीराज दयानन्द के शब्दों में— "किसी को भी मृत्यु से भय करना योग्य नहीं है, क्योंकि जिनका जन्म हुआ है, उनकी मृत्यु होती है। इसलिए मृत्यु से डरना मूर्खों का काम है।

जो मृत्यु नई ज़िन्दगी देने वाली हो, उससे क्यों डरे? पंडित गंगा प्रसाद उपाध्याय ठीक हो लिखते हैं कि— "No death is death, if it leads to life. And we cannot think of death without thinking of life after it." *(Life after death)* अर्थात वह मृत्यु वस्तुतः मृत्यु नहीं कि जो जीवन की ओर ले जाती हो और हम मृत्यु के बारे में बिना भावी जीवन के सोच भी नहीं सकते। फिर मृत्यु, मृत्यु कैसी? यह तो नवीन जीवन के लिए पारपत्र है। फिर यह भयानक कैसे हो सकती है?

जब मृत्यु भयानक नहीं तो फिर मृत्यु से भय क्यों?

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि जब मृत्यु भयानक नहीं तो फिर उससे भय क्यों लगता है? जब मृत्यु वस्त्र बदलने के सदृश्य मानी गई है, फिर वस्त्र बदलने पर भय तो नहीं लगना चाहिए, पर हम

देखते हैं कि फिर भी लोग उससे डरते हैं। ऐसा क्यों? यह इसलिए कि मृत्यु का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने से ओझल रहता है। मृत्यु के स्वरूप को न समझते हुए अज्ञान के वशीभूत हो जीव मृत्यु से डरने लगता है। मरने का यह उसका भय मुख्यतः अज्ञान के कारण है। अतः अज्ञान को दूर करना आवश्यक है। अज्ञान के कारण ही मरणासन्न व्यक्ति यह समझता है कि यह काया रूपी वस्त्र छिने जा रहे हैं। और पता नहीं कि दुबारा मिलेंगे भी कि नहीं। यह सुन्दर संसार, यह नाना प्रकार के सुन्दर-सुन्दर भोग फिर मिलेंगे कि नहीं। यही उसके दुःख एवं भय का कारण बन जाता है। कवीन्द्र रवीन्द्र का यथार्थ कथन है कि—The child cries out when from the right breast the mother takes it away, in the very moment to find in the left one its consolation. अर्थात् माता जब बालक को दायें स्तन से हटाती है तो बच्चा चिल्ला उठता है किन्तु अगले ही क्षण जब बायें स्तन से चिपटा लेती है तो उसे शान्ति मिलती है। हमारी स्थिति भी ठीक ऐसी ही हैं जगजननी मां जब सांसारिक भोगों से हमको छुड़ाती है तो हम चिल्ला उठते हैं। पर हम भूल जाते हैं कि करूणामयी मां ने भोग हमसे इसलिए नहीं छुड़ाये कि हमें भोगों से वंचित रखा जाये, अपितु इसलिए कि इस शरीर में अब भोगों को भोगने की सामर्थ्य नहीं रही। इसलिए वह नवीन शरीर की व्यवस्था करती है ताकि हम फिर से भोगों को भोग सकें और नवीन कर्म सम्पादित कर सकें।

छोटे अबोध बालकों के वस्त्र जब उनकी माता उतारती है तो बालक रोने चिल्लाने लग जाता है। पर वही बालक जब बड़ा एवं समझदार (ज्ञानी) हो जाता है तो कपड़े मैले हो जाने पर स्वयं माता के पास जाकर कहता है कि मां मेरे कपड़े मैले हो गये हैं, इन्हें बदल दो। कवि के शब्दों में वह पुकार-पुकार कर कहता है कि—

दे उजले ले राख पुराने, अब मोरा जियरा न माने।

महर्षि दयानन्द का जीवन इसमें प्रमाण है। बालकपन में मूल शंकर के रूप में अपनी बहन की मृत्यु पर इतना भयभीत हो उठे कि

अवसन्न होकर रह गये। उस हृदय विदारक दृश्य का महर्षि अपनी आत्म कथा में निम्न शब्दों में वर्णन करते हैं– "उस भामिनी का शोक ही मेरे लिए प्रथम शोक था। उस शोक से हृदय में बड़ा अघात लगा। उस शोकप्रद घटना के समय जब आत्मीय स्वजन मेरे चारों ओर खड़े क्रन्दन विलाप कर रहे थे, मैं पाषाण मूर्ति के समान अविचलित रहकर चिन्ता के शोक में डूबा हुआ था। मनुष्य जीवन की क्षण भंगुरता की बात सोचकर अपने मन में कह रहा था कि जब पृथ्वी पर सबको इस प्रकार मरना है तो मैं भी एक दिन मरूंगा। परन्तु कोई ऐसा स्थान भी है या नहीं जहां आकर मृत्यु समय की यंत्रणा से रक्षा हो सके। सब लोग रोते थे परन्तु मेरी छाती में डर होने के कारण एक आंसू भी आंख से न गिरा। पिताजी ने मुझे पाषाण हृदय कहा। मेरी माता जो मुझे बहुत प्यार करती थी, उसने भी ऐसा ही कहा—मुझे सोने के लिए कहा गया परन्तु मुझे शान्ति से निद्रा नहीं आई। भला ऐसी अशान्ति में निद्रा कहां? बार बार चौंक पड़ता था और मन में नाना प्रकार की तरंगें उठती थीं। हमारे देश की प्रथा के अनुसार मेरी बहन के रोने के चार पांच अवसर बीत गये परन्तु मैं तो रोया नहीं, इस कारण बहुत से लोग मुझे धिक्कारने लगे।

पाठक वृन्द! पारिवारिकजन मूलशंकर की नितान्त अश्रुहीन शुष्क आंखें देखकर उन्हें पाषाण हृदय एवं निष्ठुर आदि शब्द कहकर धिक्कारने लगे। दुःख है कि उनकी स्थूल दृष्टि मूलशंकर की अन्तर्वेदना को न जान सकी जिसमें भय समन्वित पीड़ा का अथाह सागर उद्वेलित हो रहा था। उनकी दृष्टि उस गहराई तक पहुंच भी कैसे सकती? जब हमने आंसुओं को ही दर्द का पैमाना समझ लिया हो, तो फिर हृदय की गहराईयों तक कौन उतरने लगा? पर याद रखें!

चश्मे–पुरनम से ग़मे दिल का न अन्दाज़ करो।
ज़ोर साहिल पे तूफां का कहां होता है?

और सत्य तो यह है कि रोने के लिए आंसू बहाना कोई आवश्यक भी नहीं। क्योंकि—

"रोने के लिए लाज़िम नहीं, आंसू को बहायें।
रोये अगर जो दिल तो फिर आंसू कहां से लायें॥

अतः—शक न कर मेरी आंखों पर कभी इस तरह भी आंसू बहाये जाते हैं।

जो भी हो। मूलशंकर का हृदय भय से कांप उठा था और वह यही सोचता था कि जैसे भी हो मृत्यु से बच सकूं। पर यह अज्ञानी मूलशंकर की अवस्था थी, महाज्ञानी महर्षि दयानन्द की नहीं। ज्ञानी दयानन्द तो मृत्यु शैय्यापर पड़े अति दुखदायी कष्टों के रहते हुए भी प्रसन्नचित्त प्रभु की लीला को स्मरण करते हुए प्राण त्यागते हैं—यही गुनगुनाते हुए कि— "आहा! प्रभु तैने अच्छी लीला की। तेरी इच्छा पूर्ण हो। अब न तो कोई डर है, न भय। एक प्रेमी-प्रिय के मिलन का सा अपूर्व दृश्य है। जब मृत्यु प्रभु का ही संदेशा बनकर आई हो तो फिर उससे डर कैसा? भय कैसा? सत्य है—

'मौत को देखकर जान सी आ गई,
जब मैं समझा कि तेरा ही पैग़ाम है।
दिल को सकूं रूह को आराम आ गया,
मौत आ गई कि दोस्त का पैग़ाम आ गया।

उपर्युक्त विवरण से यही सिद्ध होता है कि मृत्यु से भय का कारण अज्ञान है। अज्ञानी सिद्धार्थ एक शव यात्रा देखकर मृत्यु से भयभीत हो उठा था, परन्तु वही महात्मा बुद्ध ज्ञानी होने पर शान्ति से निर्वाण प्राप्त करते हैं। अतः मृत्यु से भय वस्त्र बदलने के कारण नहीं अज्ञान के कारण है। ज्ञानी जन तो वस्त्र बदलने की प्रतीक्षा करते दिखाई देते हैं, जैसे मुनिवर गुरुदत्त विद्यार्थी किया करते थे। अपने अन्तिम दिनों में प्रायः यही कहा करते थे कि मैं इस जीवन में दयानन्द सा न बन पाया। इसलिए मैं यह शरीर छोड़ रहा हूं ताकि अगली बार इस कार्यसिद्धि के लिए आत्मा को अधिक उपयुक्त शरीर

मिलेगा। सोचें तो सही कि जब मां बुला रही है कि आओ बेटे! कपड़े मैले हैं, बदल दूं। तो फिर मां की गोदी में जाने से डर कैसा? फटे कपड़ों से मोह व्यर्थ है वे अब और चलने के नहीं, सिलने वाला भी सिल सिल कर रफू कर करके परेशान हो गया है। अब तो उसे बदल डालने में ही भला है। काश! हम पंडित गंगा प्रसाद उपाध्याय की बोली में बोल पाते कि—

हो गया तार तार कोहना लिबास, अब तो रफूगार भी हमसे आरी है।
क्या कहें किस तरह गुज़रती है, जामा-ए-नौ की इन्तजारी है॥

अज्ञान से भय क्यों

अज्ञान से भय का मुख्य कारण अनित्य में नित्य बुद्धि करना है। यही अज्ञान मोह को उत्पन्न करता है। और अज्ञानमूलक इस मोह के कारण प्राणी अपने प्रिय भोगों और बन्धु बांधवों को छुटता हुआ देखकर दुखी होता है। और हठात् उन भोगों एवं बन्धु-बान्धवों को छुटाने वाली मृत्यु को महाभयंकर रूप में देखता है। वह सफर की दोस्ती को स्थायी मित्रता समझ बैठता है। वह सराय को पुश्तैनी मकान समझ बैठता है। यही भूल उसे परेशान करती है। यात्रा में सैकड़ों मिलते हैं, थोड़ी देर साथ रहते हैं परस्पर मित्रता भी हो जाती है और फिर बिछड़ जाते हैं। बिछुड़ते समय शीघ्रता में अपना सामान बटोरने तथा उतरने की धुन में उन सहयात्रियों का कोई ध्यान तक भी नहीं रहता। यदि हम भी ऐसा ही सोचने लगे तो फिर ऐसे मिलन पर हर्ष कैसा, और बिछुड़ने पर शोक कैसा? तब हमें मृत्यु सतायेगी नहीं। यदि हम यह समझ लें कि—

अजब सराय है कि यह दुनियां कि जिसमें सहरो-शाम किसी का कूच, किसी का मुकाम होता है तो फिर हमें कोई कष्ट अथवा दुख या भय नहीं होगा। माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी, पिता-पुत्र सब थोड़े दिन के नाते हैं। फिर उनमें मोह क्यों? गीता में श्री कृष्ण का अर्जुन को उपदेश का सार भी यही है। विवेक और वैराग्य से मोह

और ममता पर विजय पाकर हम मृत्यु पर विजय पा सकते हैं। पके खरबूजे की तरह बेल से स्वतः छूट कर मृत्यु का आनन्द पा सकते हैं।

मृत्यु के भय का एक और कारण भी है। वह यह कि यह संसार अथवा यह जीवन एक यात्रा है। हम सबको भी एक दिन जाना ही है। अचानक कूच का नगाड़ा बज उठता है और यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। जो पहले सफर के लिए तैयार नहीं रहते, उन्हें बड़ी परेशानी होती है। विपरीत इसके जो सफ़र को तैयार बैठे रहते हैं, उन्हें किसी प्रकार की कोई परेशानी नहीं होती। साथ में उन्हें भी सफर में परेशानी होती है जो ढेर सारा सामान सफर में लेकर चलते हैं। और उन्हें भी कि जो आवश्यक सामान साथ लेकर ही नहीं चलते। अतः सफर के लिए यह आवश्यक है कि आवश्यक सामान तो साथ हो, पर अनावश्यक सामान का बोझा साथ में न हो। इसे हम यूं समझ सकते हैं कि जीवन रूपी इस सफर में पुण्य रूपी आवश्यक सामान तो साथ में हो, पर पाप रूपी अनावश्यक सामान का बोझ साथ न हो। तो यात्रा सुखद रहेगी। यदि हम ऐसा कर सके तो मृत्यु हमें भयानक नहीं लगेगी।

मृत्यु के समय मरने वाले के स्मृति पटल पर उसके सम्पूर्ण जीवन के कार्यों का एक खाका सा खिंच जाता है। अपने कृत कर्मों एवं उनसे मिलने वाले दण्ड को देखकर भयभीत होना स्वाभाविक है। और यदि कर्म अच्छे हुए और उनसे मिलने वाले पुरस्कार को देखकर मृत्यु पर प्रसन्न होना स्वाभाविक है। वेद का 'कृतं स्मर' का उद्घोष इसमें साक्षी है। मनीषियों का कथन है कि मृत्यु से पूर्व स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्मभर की घटनायें एक-एक करके मरने वाले के सामने आती चली जाती है। समय की धुन्ध उन पर से बिल्कुल हट जाती है और दृश्य अति साफ और स्पष्ट होते हैं। तभी बाहर से चेतना खिंचकर अन्तर्मुखी हो जाती है, जिनके कर्मों का खाता उज्जवल होता है उन्हें मृत्यु भयानक नहीं लगती। विपरीत इसके जिनके कर्मों का खाता मलिन होता है, मृत्यु उन्हें महाभयंकर लगती

है। संसार में भी हम प्रायः देखते हैं जिस विद्यार्थी ने अपना पाठ याद किया होता है, वह हाथ उठा-उठा कर अध्यापक को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है और जिसने पाठ याद नहीं किया होता वह दुबकने का प्रयत्न करता है कि कहीं अध्यापक की दृष्टि पड़ गई तो डण्डे पड़ेंगे। पदोन्नति होने पर प्रसन्नता और अवनति होने पर दुख स्वाभाविक है यही बात मृत्यु के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। यदि कर्म अच्छे हैं तो उन्नति है और प्रसन्नता है और यदि कर्म बुरे हैं तो अवनति अतः दुख है। हम सांसारिक अध्यापक की आंख से तो बच सकते हैं, पर विश्व-नियन्ता, उस परम अध्यापक की निगाह से बच नहीं सकते। अतः भय का कारण हमारे अपने ही कुकर्म हैं। स्वयं मृत्यु नहीं। यदि मृत्यु भयानक होती तो सत्कर्मियों को भी भयानक लगनी चाहिए थी। पर ऐसा होता नहीं।

मृत्यु से डरिये नहीं

जब मृत्यु स्वयं में कोई भयानक वस्तु नहीं तो फिर मृत्यु से डरें क्यों? मृत्यु से डरना तो मूर्खतापूर्ण कायरता है। हम पूर्व लिख आये हैं कि हमारे ज्ञान और जीवन साधना की परीक्षा है कि हम मृत्यु का स्वागत किस प्रकार से करते हैं। अतः इस परीक्षा में खरे उतरने के लिए हमें ऐसी साधना या अभ्यास करना होगा कि जिससे अचानक मृत्यु आ जाने पर हमें कोई परेशानी, कष्ट अथवा भय न हो। हम मृत्यु का स्वागत करने को तत्पर रहें। जब हम यह जानते हैं कि इक न इक दिन मरना ही हैं, तो फिर हम उसकी तैयारी क्यों नहीं करते, व्यर्थ को डरते क्यों रहते हैं? अतः हमें यही सोचना चाहिए कि—

मरने से क्या डरना है जब इक न इक दिन मरना है।

कविवर मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में—

विचार लो कि मर्त्य हो, न मृत्यु से डरो कभी।
मरो किन्तु यों मरो, याद जो करें सभी॥

अतः—**निर्भय स्वागत करो मृत्यु का, मृत्यु है एक विश्राम स्थल।**
जीव यहां से फिर चलता है, धारण कर नवजीवन संबल॥

फिर एक बात और भी है जिसकी ओर संत प्रवर कबीर दास जी ने संकेत किया है। वह यह है कि–

कबिरा मैं तो तब डरूं जो मुझ ही पे होय।
मौत बुढ़ापा आपदा सब कोई पे होय॥

अर्थात् यदि मृत्यु का शिकार एक अकेले मैंने ही होना हो, तो कुछ डरने की बात समझ आ भी सकती है। जब सभी ने एक न एक दिन काल कराल के मुख में समा जाना ही है, तो फिर यह तो यह आम बात हुई अतः मैं ही क्यों डरता फिरूं? भयभीत होने से यह टल थोड़े ही जायेगी। वस्तुतः वस्तुस्थिति यह है कि–

कमर बांधे हुए चलने को यहां सब यार बैठे हैं।
बहुत आगे गये बाकी जो हैं तैयार बैठे हैं॥

सोंचें तो सही हम अकेले तो नहीं, इस राह पर चलने वाले। यह रास्ता तो आम रास्ता, शाराये आम है। फिर–

अज़ल के नाम से ग़ाफ़िल तेरा दिल क्यों धड़कता है।
मुसाफ़िर रोज़ जाते हैं, यह रास्ता रोज़ चलता है॥

मृत्यु को याद रखें

मृत्यु ईश्वर की व्यवस्था है। अतः व्यवस्था का याद रखना सदैव हितकर होता है। व्यवस्था को याद रखने से व्यवस्थापक भी याद रहता है। कहा भी है–

याद कर लेता हूं अपनी मौत को,
हाज़िरी हो जाती है भगवान के दरबार में॥

जब मनुष्य मृत्यु से डरता है तो उसे भुलाने का प्रयत्न करता है। और मृत्यु को भुला देने से कुकर्मों में लिप्त हो जाता है। इसी लिए महर्षि दयानन्द ने लिखा था कि जो जीव यह विचार करेगा कि मुझे मरना अवश्य है, अतः मुझे कुकर्म नहीं करना चाहिए, वह सदा विचार पूर्वक कर्म करेगा और कभी भी पापों से लिप्त नहीं होगा। सन्त विनोबा के अनुसार मृत्यु की स्मृति चित्त शुद्धि के लिए बहुत

उपयोगी हैं, इसलिए मृत्यु का सतत् स्मरण होना चाहिए। मृत्यु जीवन की एक हकीकत है और बहुत लाभदायी है। विदेह जनक का जीवन इस बात की पुष्टि करता है। कहते हैं कि एक बार एक ऋषि राजा जनक के पास पहुंचे और पूछ बैठे कि सदेह (देह सहित) होते हुए भी आप विदेह क्यों कहे जाते हैं?

जनक ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि महात्मन्! प्रथम भोजन कर लें फिर उत्तर दे दिया जायेगा। ऋषि को भोजनालय पहुंचाया गया। ठीक उस स्थान पर कि जहां महात्मा जी ने बैठना था, कच्चे धागे से एक तलवार ऊपर लटक रही थी। जब ऋषि की दृष्टि उस लटकती तलवार पर पड़ी तो भोजन का सारा स्वाद जाता रहा। जैसे-तैसे खाकर उठ बैठे। राजा ने पूछा महात्मन्! भोजन तो स्वादिष्ट बना था फिर आपको उसमें आनन्द क्यों नहीं आया? ऋषि बोले कि ध्यान भोजन की ओर था कब, वह तो उस लटकती हुई तलवार की ओर था कि कहीं ऊपर आकर न गिर जाये। राजा बोले कि यही मेरे विदेह होने का रहस्य है। मौत की तलवार सर पर लटकी हो तो फिर सांसारिक विषयों में आसक्ति कैसे हो सकती है? बस अंतर इतना है कि आपने केवल उसी समय तक अनुभव किया मौत की तलवार सर पर लटकी हुई है। सत्य है—

"क्या भरोसा देह का विनस जाय छिन माहिं,
श्वास श्वास सुमिरन करो और जतन कछु नाहिं।"

फ़िरदौसी ने भी शाहना में कहा है कि मनुष्य इस नापायदार दुनिया में क्यों दिल लगाते हैं जबकि मौत का नगाड़ा दरवाजे पर बज रहा है। अतः गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्। इस शास्त्रोक्ति के अनुसार हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि मृत्यु ने हमारे बालों को जकड़ रखा है। अतः हमें धर्म का आचरण करना चाहिए। मृत्यु का विस्मरण ही पाप पंक में फंसाता है और मृत्यु का स्मरण पुण्य में प्रवृत्ति का पथिक बनाता है। इस प्रकार जीवन नेकियों से भरा होने से अन्तिम समय प्राण त्यागते हुए भी मनुष्य मृत्यु के भय से भयभीत

नहीं होता।

क्या मृत्यु भय पर विजय पाई जा सकती है?

यद्यपि मृत्यु के भय को जीतना कोई सरल कार्य नहीं तथापि ज्ञान, वैराग्य अभ्यास तथा सतत् साधना से इस पर विजय पाना कोई कठिन भी नहीं। इतिहास साक्षी है कि अनेकों ऐसे महापुरुष हुए हैं कि जिन्होंने हंसते-हंसते मृत्यु का स्वागत एवं आलिंगन किया है। वस्तुतः विवेकशील व्यक्ति के लिए मृत्यु कोई समस्या नहीं रहती। इसलिए इससे वह भयभीत भी नहीं होता। अतः हम यही कहेंगे कि मृत्यु पर अवश्यमेव विजय पाई जा सकती है। मृत्यु पर विजय पाना मानव का कर्तव्य है। वही एकमात्र विवेकशील प्राणी है। यदि वह भी मृत्यु के भय से भयभीत रहा तो फिर उसका विवेक किस काम का? अतः—

अपने जीवन को सदा चमका के जीना चाहिए।
हर कदम पे मौत को ठुकरा के जीना चाहिए॥

मृत्यु भय कैसे जीतें?

मृत्यु का भय जीतने के लिए यह आवश्यक है कि उन कारणों को दूर किया जाये कि जिन कारणों से यह उत्पन्न होता है। क्योंकि कारण की विद्यमानता में कार्य का अभाव असम्भव है। अतः सर्वप्रथम उन कारणों की खोज करनी होगी जिनसे मृत्यु का भय उत्पन्न होता है। हम पूर्व भी लिख आये हैं कि मृत्यु के भय का मुख्य कारण अज्ञान अथवा अविद्या है। योगदर्शन में जीव को बांधने वाले—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पांच कारण बताये गये हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती की मान्यतानुसार अस्मिता आदि चारों क्लेशों की जननी भी अविद्या ही है। अविद्या के कारण ही जीव नित्य में अनित्य बुद्धि एवं अनित्य में नित्य बुद्धि करने लग जाता है। अविद्या के कारण ही वह इस मर्त्य शरीर की मृत्यु को,

अमर आत्मा की मृत्यु समझ बैठता है। अविद्या के कारण ही जीव जन्म और मृत्यु के यथार्थ स्वरूप को भूल जाता है। संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं कि जो अपने बाद की स्थिति पर विचार करते-करते मृत्यु से भय खाने लगते है। अपने अविद्याजन्य इस चिन्तन के कारण वे सोचने लगते हैं कि न जाने मेरी मृत्यु के बाद संसार का क्या बनेगा? मेरे बाद बच्चों तथा कारोबार आदि का क्या बनेगा? वे किस के आश्रय रहेंगे? पता नहीं उन्हें कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़ जायें? न जाने वह कैसी-कैसी कल्पनायें करने लग जाता है? पर इस प्रकार की सभी कल्पनायें सर्वथा निराधार और निरर्थक है। हमें सोचना चाहिए कि हम अपने बीवी बच्चों के भाग्य-विधाता थोड़े ही हैं। पर अविद्या उन्हें ऐसा सोचने ही कब देती है। अतः सर्वप्रथम अविद्या रूपी कारण को ही दूर करना आवश्यक है।

अविद्या निवृत्ति द्वारा अभिनिवेश निवृत्ति

मृत्यु भय अर्थात् अभिनिवेश की निवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन यदि कोई है तो निश्चय ही वह अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि ही है। मृत्युजंय दयानन्द ने अभिनिवेश आदि सभी क्लेशों का मूल अविद्या बताया है। अविद्या के नष्ट हो जाने से शेष चारों क्लेश स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। महर्षि दयानन्द का कथन है कि– "जब विद्वान और धर्मात्मा उपासकों की सत्य विद्या से अविद्या विछन्न अर्थात् छिन्न-भिन्न होके प्रसुप्तनुः नष्ट हो जाती है। तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।" (ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, मुक्ति विषय) अभिनिवेश क्लेश की निवृत्ति का उपाय बताते हुए महर्षि लिखते हैं कि –'इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्य द्रव्य के संयोग को अनित्य जान लेगा।'

अथर्ववेद में भी आया है कि–'तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमंजरं युवानम्।' (10/8/44) अर्थात् उस आत्मा को ही धीर अजर

और युवा जानता हुआ (जीव) मृत्यु से नहीं डरता। अंग्रेजी के किसी विद्वान का यथार्थ कथन है कि The man who knows the soul as firm Immortal undecaying and ever young does not fear from death.

जैसे कि पूर्व लिख आये हैं कि मृत्यु के स्वरूप तथा आत्मा के अमरत्व को न जानने के कारण ही जीव सदा भयभीत रहता है पर जब उसे मृत्यु के स्वरूप तथा आत्मा की अमरता का यथावत ज्ञान हो जाता है, तब उसे कोई भय नहीं रहता। और वह कविवर दिनकर के शब्दों में यही गुनगुनाते लगता है–

'रोने की क्या बात, जन्म हां यहीं कहीं उद्गम है।'

अज्ञानीजन कच्चे फल के सदृश्य है। कच्चे फल तोड़ने पर कुछ रस स्राव हो ही जाता है परन्तु पक्का फल तो स्वतः ही पके खरबूजे की भांति बेल से अलग हो जाता है। यही कारण है कि ज्ञानी जन मृत्यु से भयभीत नहीं होते। वे मृत्यु को जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता समझते हैं। उन्हें तो मृत्यु में भी उस दयालु देव की दया ही दृष्टिगोचर होती है।

मृत्यु भय को जीतने के लिए प्रश्नोपनिषद् में बहुत ही सुन्दर उपदेश दिया गया है। वह यह कि– 'अरा इव रथनामौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठताः तं वेद्यं पुरुष वेद यथा भावो मृत्युः परिकव्या इति।' अर्थात् रथ कीं नाभि में जैसे अरे लगे रहते हैं। ऐसे ही जिस ब्रह्म में यह सब कलायें प्रतिष्ठित हैं, उस जानने योग्य पुरुष का ज्ञान प्राप्त करो तभी मृत्यु किसी प्रकार व्यथा नहीं देगी। ईश्वर और उसकी व्यवस्था को जान लेने पर फिर मृत्यु कोई भयानक वस्तु नहीं रह जाती। साथ ही आत्मवाद को भी समझ लेने से अभिनिवेश की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए मनुष्य को आत्मविज्ञ होने का उपदेश दिया जाता है। जब हमें इस बात का ज्ञान हो जाता है और मृत्यु उन दो तत्वों के वियोग का नाम है। और यह संयोग और वियोग अवश्यम्भावी हैं, और फिर मृत्यु का भय नहीं सताता। इसमें एक तत्व शरीर अनित्य है, चूंकि वह कार्य है और दूसरा तत्व आत्मा अमर है। उसका न जन्म

होता है और न मृत्यु। मृत्यु शरीर की होती है, क्योंकि जन्म भी उसी का होता है। जो जन्मा है वही तो मरेगा। जो जन्मा ही नहीं वह मर ही कैसे सकता है? आत्मा अजन्मा है। वह मरता भी नहीं। आत्मा तो केवल शरीर को धारण करता है। इस शरीर का ही बचपन, जवानी, बुढ़ापा और अन्त में क्षय हो जाता हे। स्पष्ट है कि वस्त्र ही फटा करते हैं, नष्ट होते हैं, पहने वाला नही। शरीर आत्मा का वस्त्र है जब फट जाता है तो बदला जानां आवश्यक हुआ करता है। अतः उससे मोह क्यों किया जाये। यह ज्ञान विवेक जिसमें आ जाये, उसे मृत्यु का भय कभी सता नहीं सकता। वह संसार के किसी भय से भयभीत नहीं होता। महर्षि दयानन्द सुकरात, वीर, हकीकत आदि अनेकों के जीवन इसमें प्रमाण हैं। महर्षि दयानन्द के जीवन की इस घटना से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी। बरेली में महर्षि जिस समय पाखण्ड के खण्डन में व्यस्त थे तो तब उन्होंने उद्घोष किया था कि—"लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलक्टर क्रोधित होगा। अप्रसन्न होगा। गवर्नर पीड़ा देगा। अरे! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।" फिर सिंह गर्जना करते हुए बोले कि—"यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नाश कर दे।" फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डालकर सिंहनाद करते हुए कहा—"किन्तु वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखाओ जो मेरे आत्मा का नाश करने का दावा करे। जब तक ऐसा वीर संसार में दिखाई नहीं देता तब तक मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊंगा या नहीं।" (कल्याण मार्ग का पथिक पृष्ठ, 53) फर्रुखाबाद में पादरी ल्यूकस ने एकबार महर्षि से कहा था कि यदि तोप के मुंह के सम्मुख रखकर कोई तुमसे पूछे कि क्या तुम सत्य कहोगे तो आप क्या उत्तर देंगे? महर्षि ने निर्भीकतापूर्वक कहा था कि—"यदि कोई तोप के मुख से भी बांध कर भी मुझ से पूछे तो भी मैं सदा सत्य ही कहूंगा।" इसी प्रकार जब महर्षि जोधपुर जाने को समुद्यत हुए तो लोगों ने उन्हें

वहां जाने से रोकना चाहा क्योंकि वहां उनके प्राणों के हरे जाने की प्रबल आशंका थी। किन्तु आत्मविज्ञ इस महामनीषी ने यह कहकर उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया कि, "यदि लोग हमारी अंगुलियों को बत्तियां बनाकर जला डालें तो भी चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्योपदेश करूंगा।" (श्रीमद्दयानन्द प्रकाश पृष्ठ 527)।

पाठक वृन्द! महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन की कुछ घटनायें यहां देने से हमारा तात्पर्य यह सिद्ध करना है कि वह व्यक्ति जो कभी अपनी बहन की मृत्यु पर ऐसा भयभीत हो उठा था कि अवसन्न होकर रह गया था और भयातिरेक के कारण जिसकी आंखों से आंसू का एक कण भी नहीं फूट पाया था, वही आज पग पग पर मृत्यु को ललकार रहा है। तब वह मृत्यु के विचार मात्र से कांप उठा था क्योंकि तब वह अबोध मूलशंकर था। पर आज वह महाज्ञानी ऋषिवर दयानन्द सरस्वती बन चुका है, उसे जीवन और मृत्यु की वास्तविकता का पूर्णरूपेण बोध हो चुका है, तभी वह मृत्यु को ललकार रहा है। और मृत्यु के भय को जीत चुका है। यह है ज्ञान, विवेक और विद्या का सुफल।

मोह त्याग द्वारा मृत्यु पर विजय

अविद्या का एक स्वरूप और है। वह है मोह। मोह के वशीभूत होकर जीव अपने सम्पर्क में आने वाली सभी वस्तुओं, प्राणियों तथा परिस्थितियों से मोह करने लग जाता है। अतः वह किसी भी परिस्थिति में इन्हें छोड़ना नहीं चाहता। पर मृत्यु बलात् उनसे इन वस्तुओं को छुड़ा देती है। इच्छा के विरुद्ध बलात् वस्तुओं का छुड़ाया जाना प्राणी के लिए कष्टप्रद होता है। स्पष्ट है कि मृत्यु स्वयमेव कष्टप्रद नहीं किन्तु मनुष्य स्वयं जगत् की वस्तुओं आदि से ममता जोड़कर मृत्यु की घड़ी को कष्टमय बना लेता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि ज्ञान, विवेक एवं वैराग्य से वस्तुओं, भोगों तथा क्षणिक सम्बन्धों की असारता को जानकर व्यक्ति मोह पाशों को

काट डाले, तभी मृत्यु उसके लिए कष्टप्रद नहीं रहेगी। जब हम सांसारिक वस्तुओं की ममता को स्वयं छोड़कर वैरागयवान् हो जावेंगे तो फिर मृत्यु का भय हमें सता नहीं सकता। कष्ट तो तब होता है कि जब हम ममता के वशीभूत होकर सांसारिक भोगों एवं पदार्थों को छोड़ते नहीं और मृत्यु हम से बल पूर्वक इन सब को छुड़ाने का प्रयास करती है। अतः मृत्यु भय को जीतने का एक अमोघ साधन है ममता को जीतना। झूठे रिश्तों की निस्सारता को न समझ कर हम दुःखी होते हैं। यदि हम वैराग्य, विवेक तथा सद्ज्ञान द्वारा ममता के पाशों को तोड़ने में सफल हो सके, तो समझ लो कि हमने मृत्यु पर विजय पा ली। मृत्यु हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। सांसारिक विषयों से आसक्ति मिट जाने से मृत्यु भय की विभीषिका का स्वतः ही निराकरण हो जाता है। वैदिक वर्णव्यवस्था में अन्तिम दो आश्रम वानप्रस्थ और सन्यास का विधान भी इसीलिए किया गया है कि मनुष्य वैराग्य और अभ्यास के द्वारा मोह-ममता पर विजय पाकर ईश्वरोपासना द्वारा उसका सामीप्य ग्रहण करता हुआ मृत्यु भय पर विजय पा सके। और इस प्रकार अनासक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर आरूढ़ हो सके। मोह ममता से बचने के लिए ही सच्चे वीतराग सन्यासीगण ऐसे स्थान पर त्यागना श्रेयस्कर समझते हैं कि जहां उनका परिचित भी कोई न हो। वे तो यही कहते हैं कि–

मरना भला विदेश का जहां न अपना कोए।
माटी खायें जानवर महा महोत्सव होय॥

अतः यदि मृत्यु पर विजय पानी है तो ममता पर विजय पानी आवश्यक है।

ईश्वरोपासना द्वारा अभिनिवेश निवृत्ति

सच्ची ईश्वरोपासना अभिनिवेश निवृत्ति का एक अद्भुत साधन है। क्योंकि ईश्वर की भक्ति करना ही मोक्ष सुखदायक है एवं उसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही मृत्यु आदि दुःख का हेतु है।

अतः यदि हम मृत्यु के दुःख से बचना चाहते हैं तो ईश्वरनोपासना का अवलम्बन अत्यन्त आवश्यक है। महर्षि का कथन है कि– परमेश्वर की उपासना अर्थात् योगवृत्ति ही सब क्लेशों का नाश करने वाली और सुख शांति आदि गुणों को प्रदान करने वाली है। महर्षि स्थान-स्थान पर उपासना योग पर इसीलिए बल देते हैं कि यह अभिनिवेश आदि क्लेशों की निवृत्ति का एक अत्यन्त प्रभावशाली साधन है। महर्षि के शब्दों में– "जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्म तत्व है। उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञा पालन में पुरुषार्थ करना है यही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है। अन्य कोई नहीं। इसलिए सब मनुष्यों को अच्छे प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासना योग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिए जिससे सब विघ्न दूर हो जावें। *(ऋ. भा. भूमिका उपासना प्रकरण)* यदि हम इस उपासना योग का सर्वात्मना अवलम्बन करेंगे तो मृत्यु को भी उसी प्रभु की व्यवस्था समझते हुए उसके स्वागत के लिए सदैव तत्पर रहेंगे तो फिर भय का अवकाश कहां रहेगा? तब तो वह यही कहेगा कि–

हो गये जब ईश के तब शोक भय कुछ भी नहीं।
सब तरफ़ धारा प्रबल आनन्द की है बह रही॥

सत्कर्मों द्वारा मृत्यु भय नाश

सत्कर्मों का सम्पादन भी अभिनिवेश निवृत्ति में परम सहायक होता है। क्योंकि "नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पं।" सत्कर्मों के द्वारा अभिनिवेश का मूल कैसे नष्ट होता है, यह बात समझ लेनी आवश्यक है। जैसा कि पूर्व भी लिख आये हैं कि मृत्यु से कुछ पूर्व मरने वाले के सम्मुख उसके जीवन भर के कर्मों का एक ख़ाका सा खिंच आता है और मरने वाला अपने जीवन भर के कमो को देखकर उनके परिणामस्वरूप मिलने वाले फल का अनुमान लगा लेता है। यदि कर्म अच्छे हैं तो निश्चय ही फल भी अच्छा ही मिलेगा और यदि कर्म बुरे हैं तो फिर फल अच्छा कैसे मिल सकता है। बबूल के पेड़ बोने से आम का फल थोड़े ही

मिल जायेगा? जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में पापों एवं कुकर्मों का ही अधिक सम्पादन किया होता है, वह अपने उन पाप कर्मों को देखकर एवं उनसे मिलने वाले फल का अनुमान लगाकर भयभीत होता है। पर सत्कर्मी को ऐसा भय नहीं होता। यदि पाप कर्म न किए होते तो भय क्यों लगता। अतः हम चाहते हैं कि हमें अन्त समय में मृत्यु का भय न सताये, तो हमें जीवन काल में सत्कर्मों के बीज बोनें ही पड़ेगे। जिस प्रकार वह बालक जिसने अध्यापक का सारा काम ठीक-ठीक पूराकर लिया होता है, वह उस अध्यापक के सम्मुख जाने में कतराता एवं घबराता नहीं अपितु उत्सुकता पूर्वक हाथ उठा-उठा कर अध्यापक के पास जाना चाहता है। विपरीत इसके जिसने काम पूरा अथवा ठीक नहीं किया होता, वह अध्यापक के सम्मुख जाने से डरता एवं घबराता है और अध्यापक की दृष्टि में तो कोई धूल भी डाल कर बच सकता है, पर इस सर्वज्ञ अध्यापक की दृष्टि से भला कोई बच कहां जायेगा।

स्पष्ट है कि मृत्यु का भय अपने कुकर्मों एवं पापों के कारण लगता है, अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस भय के कारण को ही समाप्त कर दिया जाये। अर्थात् जीवन में श्रेष्ठ कर्मों के सम्पादन में ही अधिक ध्यान दिया जाये। महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ठीक ही लिखते हैं कि– 'मनुष्य जीवन दो भागों में बटा हुआ है। (1) मृत्यु से पूर्व, (2) मृत्यु शैय्या का। जब मनुष्य पहले भाग में होता है तब उसे कर्म करने की पूरी-पूरी स्वतंत्रता होती है। लेकिन जब वह मृत्यु शैय्या पर होता है तब यह स्वतंत्रता छिन जाती है। दूसरा भाग वस्तुतः पहले भाग का चित्र होता है अर्थात् मृत्यु से पूर्व की परिस्थितियों और प्रभावों का मृत्यु शैय्या का भाग फोटो होता है और यह फोटो दुनिया के सामने आ जाया करता है। अतः स्पष्ट मालूम यह हुआ कि जीवन के पहले भाग में अर्थात् मृत्यु से पूर्व अच्छे कर्म करने चाहिएं। (कथा माला से)

उपर्युक्त विवेचन से यही तथ्य प्रमाणित होता है कि मानव

जीवन में करने योग्य कर्मों को जो पूरा कर लेता है, वह कर्म नियन्ता परमेश्वर के सम्मुख जाने में घबराता नहीं। विपरीत इसके जिसने कुकर्म एवं पाप किये होते हैं, वह उसके रुद्र रूप को ध्यान में लाकर भयभीत अवश्यमेव होता है। इसलिए मृत्यु भय से त्राण पाने के लिए हमें निष्पाप जीवन व्यतीत करना परम आवश्यक है। निष्पाप जीवन व्यतीत करने के लिए हमें अपने कर्मों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। मनुष्य है ही मननशील प्राणी का नाम। अतः हमारे कर्मों में विवेक की पुट होनी चाहिए। विवेक के द्वारा हम वासना को नियंत्रित कर सकते हैं। और जब वासना पर विवेक का अधिपत्य होगा तो फिर हमारे कर्म भी निश्चय ही श्रेष्ठ ही होंगे। और जब कर्म श्रेष्ठ होंगे तो फिर अन्त समय मृत्यु के निकट जाने पर हमें उसका स्वागत करने में कोई परेशानी नहीं होगी। पर इसके लिए सतत् अभ्यास की आवश्यकता है। हमारा यह जीवन है ही कर्म क्षेत्र। यदि हम इस कर्मक्षेत्र की उपेक्षा कर देंगे तो फिर जो परिणाम हो सकता है, उसके लिए भी तैयार रहना ही होगा।

अन्त समय में ईश चिन्तन

कहते हैं कि *अन्त मति सो गति* के अनुसार अन्त समय में जैसी मति होती है, जैसी वृत्ति होती है, वैसी ही जीव की गति होती है। इसलिए उपासक जन मग्न होकर प्रार्थना करते हैं कि—

अन्त समय में हे जगदीश मुझको,
तुमरा ही सुमरिन तुमरा ही ध्यान हो।

गीता में भी आया है कि—

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मिन्।
यः प्रयाति त्येजन्देहं स याति परमां गतिम्। (8/13)

स्वामी संपूर्णानन्द जी इसका भाष्य करते हुए लिखते हैं कि मेरे भक्तिमय जीवन को स्मरण करता हुआ तथा मेरे पीछे (जीवनानुकूल) चलता हुआ 'ओम्' इस एकाक्षर मंत्र का उच्चारण करता हुआ जो

देह को छोड़ता हुआ जाता है वह परम गति को प्राप्त होता है। हमारे पौराणिक भाई गीता के इस श्लोक के आधार पर जीवन में ओम् का जाप करना अशुभ मानते हैं। उनकी मान्यता यह है कि मरते समय ओम का ध्यान और जाप कैसे हो? जिसने जीवन में कभी 'ओम्' का स्मरण न किया हो अन्त समय में वह उसका स्मरण कैसे कर सकता है? जो व्यक्ति जीवन भर जिसकी उपासना करता है, अन्त समय में भी उसी को स्मरण करता हुआ विदा हुआ करता है। ऐसा प्रायः देखा गया है।

महमूद ग़ज़नवी जीवन भर लूट-पाट द्वारा धन दौलत की उपासना करता रहा अन्त समय उसका बड़ा कष्टमय रहा। प्राण शरीर को छोड़ नहीं रहे थे। सरदारों ने लूट का माल उसके सम्मुख रख दिया। महमूद गज़नवी ने एक तृष्णा भरी दृष्टि उस पर डाली और प्राण पखेरू उड़ गये।

महाराणा प्रताप जीवन भर स्वतंत्रता देवी की उपासना करते रहे पर अन्त समय उनका भी कष्ट से बीता। जीवन में अनेकों कष्ट सहने पर भी जो राणा कभी व्याकुल नहीं हुए थे, अन्तिम समय में इतने व्याकुल कि जिसका वर्णन करना भी कठिन है। रह-रह कर राणा मेवाड़ के लिए व्याकुल हो उठते थे। प्राण अटके पड़े थे। उन्हें भय था कि अमरसिंह मेवाड़ की रक्षा नहीं कर पायेगा। उनके मस्तिष्क के सामने वह दृश्य कौंध रहा था कि जब राजकुमार जंगल में फूंस की कुटी में से निकल रहा था तो उसकी पगड़ी सरकंडे में उलझ कर फट गई। अमर सिंह ने इस पर विशेष ध्यान न दिया। राणा को यह बहुत बुरा लगा। दूसरी ओर उन्हें वह स्मरण होने लगा जब उनका एक दूत सीत प्रसाद अकबर के दरबार में गया था तब उसने अपनी पगड़ी उतार कर अकबर को सलाम किया था। अकबर ने पूछा कि तुमने झुककर ताज़ीम तो बजा दी पर पगड़ी क्यों उतारी? दूत का कथन था कि यह मेरी पगड़ी मेरे स्वामी राणा प्रताप की दी हुई है। अतः मैंने पगड़ी उतार कर आपको नमन किया है। उर्दू के

किसी कवि ने इस दृश्य को निम्न शब्दों में पंक्तिबध किया है—

अकबर के दरबार का सख्त यह दस्तूर था,
और यह दस्तूर सारे हिन्द में मशहूर था।
दोस्त हो, दुश्मन हो या कोई और हो दरबार में,
सर झुकाये अपना और ताज़ीम दे सरकार में।
एलची प्रताप का हाज़िर हुआ इक राजपूत।
था बहादुर मनचला और कौम अपनी का सपूत।
सामने आया तो उसने अपनी पगड़ी ली उतार
और फिर ताज़ीम दी अकबर को झुक कर सात बार।
मुस्करा कर पूछा अकबर ने बहादुर क्या सबब,
तूने पगड़ी क्यों उतारी है बता इसका सबब।
और अगर पगड़ी उतारी थी तो यह ताज़ीम क्यों,
सर को और पगड़ी को तूने कर दिया तक्सीम क्यों?

एलची का उत्तर

है मेरी पगड़ी यह बख़शिश की हुई प्रताप की,
अपने नौकर पर है बख़शिश की हुई प्रताप की।
इसलिए पगड़ी को मैं हरगिज़ झुका सकता नहीं।
नाम पर प्रताप के धब्बा लगा सकता नहीं।
मेरा आका भी नहीं झुकता किसी के सामने,
उसकी पगड़ी क्यों झुके फिर आदमी के सामने?

एक बूढ़े सरदार को यह किस्सा ज्ञात था। उसने मर्म भांप लिया और राना से पूछ ही बैठा तो राना ने स्वीकार किया कि मुझे मेवाड़ की चिंता सता रही है। प्राण उसी में अटके पड़े हैं। यह राजकुमार जिसे अपनी पगड़ी की रक्षा की भी चिंता नहीं, मेवाड़ की भला क्या रक्षा कर सकेगा? क्या करूं मेवाड़ की रक्षा कैसे हो? पर जब राजकुमार तथा अन्य सभी उपस्थित सरदारों ने नंगी तलवारें हवा में लहरा कर मेवाड़ की रक्षा की शपथ ली तो महाराणा ने प्राण

त्याग दिये।

भारत कोकिला सरोजनी नायडू ने जीवन भर गीतों की उपासना की थी। और जब उनका अन्तिम समय आया तो अपनी सेक्रेटरी को एक गीत सुनाने के लिए कहा। उनकी सेक्रेटरी ने जब कहा कि मुझे गाना नहीं आता। मृत्यु शैय्या पर पड़ी नायडू ने कहा कि जैसा भी आता है सुना दो। इस पर सेक्रेटरी ने गुनगुनाना प्रारम्भ कर दिया और जैसे ही गीत प्रारम्भ हुआ भारत कोकिला ने प्राण त्याग दिये।

महात्मा गांधी ने राम को उपास्य माना था। जीवन भर उसी की उपासना करते रहे और जब प्रार्थना सभा के मंच पर बैठते समय सीने में पिस्तौल की गोलियां लगीं तो उनके मुख से यही शब्द 'हे राम!' ही निकला।

महर्षि दयानन्द का उपास्य एक अद्वितीय परब्रह्म प्रभु था। उन्होंने उसी की उपासना का विधान किया और स्वयं भी उसी ही की उपासना की। और जब उनका अन्त समय आया तो उनके मुख से भी यही शब्द निकले कि—"हे प्रभु! तैंने अच्छी लीला की। तेरी इच्छा पूर्ण हो।"

उपर्युक्त सभी प्रमाणों एवं घटनाओं से हमें यही सिद्ध करना अभीष्ट है कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन काल में जिस किसी को भी अपना उपास्य माना होता है, अन्त समय में वह उसी का ही स्मरण करता हुआ प्राण त्यागता है। जीवन भर किसी व्यक्ति का उपास्य तो कोई और रहा हो, और अन्त समय में उसका कोई अन्य उपास्य कैसे हो सकता है? कविवर मोमिन ने भी क्या खूब कहा—

'उम्र तो अपनी कटी इश्के बुतां में मोमिन,
आख़री वक्त में क्या ख़ाक मुसलमां होंगे।'

इस संदर्भ में मुझे अपने जीवन की एक अविस्मरणीय घटना का स्मरण हो आता है। आधुनिक सभ्यता तथा शिक्षा आदि के कुप्रभाव स्वरूप मेरे बच्चे भी कभी-कभी मुझे पापा कहकर पुकारते थे। पापा कहलाये जाने के कारण कई बार मुझे उपदेशक वर्ग के सम्मुख

लज्जित भी होना पड़ता था। मैं स्वयं भी इस बीमारी से छुटकारा पाना चाहता था पर बच्चे पिताजी कहने से अपने को अत्यन्त पिछड़ा हुआ सा अनुभव करते थे। उनके अन्दर से यह हीन भावना जा ही नहीं रही थी पर उसका परिणाम मुझे भुगतना पड़ता था। मेरे पूज्य पिताजी महात्मा कर्मवीर जी साधक वानप्रस्थी को समाज तथा परिवार के सभी छोटे बड़े पिताजी कहकर पुकारते थे। जब कभी मैंने अपने लिए पिताजी कहलाने पर ज़ोर दिया तो वे उनकी ओर इशारा करके कह देते थे कि पिताजी तो वे हैं, आप नहीं। मेरे लिए सिवाय चुप हो जाने के और कोई चारा शेष नहीं रह जाता था। एक दिन किन्हीं संन्यासी महानुभाव ने मेरे बच्चों को पापा कहकर पुकारते सुना तो मुझे इस अनार्य सभ्यता अपनाने के लिए फटकार लगाई। मैं लज्जित था।

उनके चले जाने पर मैंने अपने बच्चों को बुलाकर समझाया कि कम से कम किसी उपदेशक अथवा सन्यासी के सन्मुख तो वे मुझे पिताजी कहकर ही पुकार लिया करें ताकि मुझे लज्जित न होना पड़े। इस पर बच्चों ने जो अपनी विवशता बतलायी और उत्तर दिया। वह मेरी आंखें खोलने वाली थीं। बच्चों का कहना था कि अब हम सदा आपको पापा जी कहकर पुकारते हैं तो फिर किसी उपदेशक के सन्मुख हमारे मुख से पिताजी भला कैसे निकल सकता है। बच्चों का यह उत्तर सुनकर मेरी चेतना जगी ओर मैं सोचने लगा कि जब जीवन काल में मुख से ओम् का उच्चारण नहीं किया तो फिर अन्त समय में ओम् मुख से कैसे निकल सकता है? अतः गीता का यह उपदेश है कि अन्त समय में जो ओम् का उच्चारण करता हुआ शरीर को छोड़ता है, वह परम गति को प्राप्त होता है, तभी सार्थक हो सकता है कि जब हम जीवन काल में ओम् के उच्चारण अथवा जाप का अभ्यास डालेंगे। फिर मृत्यु का क्या भरोसा है न जाने कहां किस स्थिति से धर दबोचे। मुख से शब्द भी निकल पायेगा कि नहीं, मन प्रभु का चिन्तन कर भी सकेगा कि नहीं, उसकी याद हृदय में आ

भी पायेगी कि नहीं? इसलिए कहा गया है कि *"हाथ कार (कार्य) में, दिल यार में।"* अर्थात् सांसारिक कार्य करते हुए हृदय में उसकी याद हर समय रहनी चाहिए क्योंकि–

जब तेरी डोली निकाली जायेगी, बिन मुहूर्त के उठाली जायेगी।

अतः– **वक्त है कुछ कूच का सामान कर,**
फिर तबीयत कब सम्भाली जायेगी।

इसलिए आइये! हम भी प्रभु से प्रार्थना करें कि–

उजाले अपनी यादों के हमारे साथ आने दे,
न जाने ज़िन्दगी की किस गली में शाम आनी है।'

जीवन क्षणभंगुर है। इसका क्या भरोसा है। अगली श्वास आयेगी कि नहीं, यह कौन जानता है? सत्य है–

क्षणभंगुर जीवन की कलिका कल प्रात को जाने खिली न खिली।
मलयाचल की शुचि शीतल मन्द सुगन्ध समीर मिली न मिली॥
कलिकाल कुठार लिये फिरता तन नम्र पे चोट झिली न झिली।
जपले प्रभु नाम अरि रसना! फिर अन्त समय को हिली न हिली॥

हमारा जीवन भक्ति रस से सराबोर होना चाहिए। यदि हमारे जीवन में भक्ति रस का संचार नहीं तो फिर हमारा जीवन शुष्क है, नीरस है, बेकार है। कवि का यथार्थ कथन है–

हम तभी समझेंगे कुछ दुनिया में आने का मज़ा,
तेरी उलफत से भरा इस ज़िन्दगी का जाम हो।

हमारा विश्वास है कि यदि जीवनान्त के समय ध्यान प्रभु चरणों में नहीं रहा तो हमारी जीवन साधना व्यर्थ गई। हम नितान्त विफल रहे। साधक तो पुकार-पुकार कर यही कहता है कि–

अगर मरते हुए न लब पे तेरा नाम आयेगा,
तो मैं मरने से बाज़ आया, मेरे किस काम आयेगा।

मरना भी एक कला है

यदि जीना एक कला है तो मरना भी एक कला है। परन्तु तब

जबकि कोई इन्हें जाने। और सत्य तो यह है कि जीने की कला जानने से अधिक मरने की कला सीखने की आवश्यकता है। पर आज संसार न जीने की कला जानता है और न मरने की। आज लोग मरे जाते हैं, जीने के लिए। दूसरी ओर जीने की लालसा मरने नहीं देती। परिणाम यह कि जीना और मरना दोनों ही दुखमय बना लिये हैं हमने। यदि जीवन को हम एक यात्रा समझेंगे तो यात्रा के पूर्ण होने पर प्रसन्नतापूर्वक गाड़ी को छोड़ घर जाने को उद्यत रहेंगे। यदि हम गाड़ी को ही अपना पुश्तैनी मकान समझ बैठेंगे तो फिर उसे छोड़ने में दुःख तो होगा ही। और मृत्यु को नवजीवन-दायनी समझेंगे कि फिर मृत्यु हमें कष्ट क्यों देगी? पर मानव में यह प्रवृत्ति सहज में स्वतः ही नहीं जग उठती। इसके लिए सतत् अभ्यास (रिहर्सल) पूर्वाभ्यास एवं तैयारी की आवश्यकता है। हम जानते हैं कि मृत्यु आयेगी पर इसकी तैयारी नहीं करते। मरने की कला मृत्यु की तैयारी में निहित है।

जब मृत्यु सिरहाने खड़ी हो

गीता की शिक्षा के अनुसार जिन-जिन भावों को लिए हुए मनुष्य देह त्यागता है, वह सदा उन्हीं भावों के अनुकूल ही आगामी देह भी प्राप्त किया करता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि अन्तिम समय के भाव शुद्ध बने रहें और हमारी वृत्ति सांसारिक मोह माया में न फंसकर प्रभु और उसकी व्यवस्था के स्मरण में लगे। इसके लिए सतत् अभ्यास की आवश्यकता हम पूर्व ही बता चुके हैं। यह केवल पढ़ लेने से, सुन लेने से अथवा कह देने से नहीं होगा। साधना तो साधना चाहती है। और इस साधना में जरासी भी कमी बहुत बड़ी हानि पहुंचा सकती है। अतः इसमें कभी भी ढील नहीं आने देनी चाहिए।

जब मृत्यु सिरहाने आन खड़ी हो, तो हमें क्या करना चाहिए, थोड़ा इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मरते समय के

कर्तव्यों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (1) मरणासन्न व्यक्ति के कर्तव्य (2) परिजनों के कर्तव्य।

मरणासन्न व्यक्ति को जब तक उसकी चेतना रहे प्रयत्न पूर्वक प्रणव पवित्र ओ३म् का जप करना चाहिए, न कि सांसारिक विषयों का चिन्तन। यदि हमारा अभ्यास होगा तो यह कार्य स्वतः ही होने लग जायेगा और यदि अभ्यास में कमी रही अथवा कोई और व्यवधान आ पड़ा तो दिक्कत होगी। परिजनों का भी यही कर्तव्य है कि वे कोई ऐसा कार्य अथवा व्यवहार न करें कि जिससे मरणासन्न व्यक्ति की वृत्ति सांसारिकता में फंसे। उन्हें स्वयं भी ओम् का ऊंचा-ऊंचा उच्चारण करना चाहिए तथा उसके सम्मुख रोना धोना नहीं चाहिए। परिजनों को ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए कि जिससे उसके प्राण विसर्जन के समय उसके मोह ममता के पाशों में बंधने की लेशमात्र भी सम्भावना हो। ईश्वर के सच्चे उपासक तो मरते समय अपने सम्मुख किसी को भी रहने नहीं देते। जैसा कि महर्षि दयानन्द जी ने किया था। सुकरात ने भी रोती हुई स्त्रियों को बाहर चले जाने को कहा था। यह इसलिए कि उनकी शांति भंग न हो। उनकी प्रवृत्ति प्रभु चरणों में ही लगी रही। यही तो मृत्यु पर विजय है।

मृत्यु का पूर्वाभ्यास (Rehearsal of Death)

हमारी मृत्यु शांतिमय हो, और मरते समय हमारी वृत्ति प्रभु चरणों में हो इसके लिए पूर्वाभ्यास की आवश्यकता है। योगीजन समाधि द्वारा पूर्वाभ्यास करते हैं जबकि साधारण लोग निद्रा द्वारा। अन्तर यह है कि समाधि सतोगुण प्रधान होती है और निद्रा तमोगुण प्रधान। समाधि और निद्रा दोनों से पूर्व प्रभु का ध्यान प्रायः आवश्यक हुआ ही करता है। निरन्तर अभ्यास से यह ध्यान हमारे जीवन का अंग बन जाया करता है। और प्रत्येक बार निद्रा से पूर्व प्रभु का ध्यान स्वतः होने लग जाता है जब यह अभ्यास और परिपक्व हो जाता है तो चिर-निद्रा अर्थात् मृत्यु के समय भी स्वतः ही ध्यान प्रभु की ओर

हो जाता है। तब कोई भय नहीं होता, कोई शोक नहीं होता। क्योंकि वृत्ति तो प्रभु चरणों में होती है।

मृत्यु के पूर्वाभ्यास का प्रयोग सन्त विनोबाभावे ने भी बताया है। वे लिखते हैं कि हम "जब कोई नाटक करते हैं, तो नाटक उत्तम हो तो इसके लिए उसका पूर्व प्रयोग (Rehearsel) करके देखते हैं वैसे ही अगर हम चाहते हैं कि मृत्यु अच्छी तरह आये, मृत्यु के समय परमात्मा का स्मरण हो, हम सावधान रहें, हमारे सारे विकार नष्ट हों तो मृत्यु का पूर्व प्रयोग करना चाहिए। निद्रा मृत्यु का पूर्व प्रयोग है। रात को निद्रा के समय हम मर रहे हैं। ऐसी भावना करके सोयें। यानी सोते समय ध्यान नामस्मरण करते हुए मृत्यु के समय हम जो करना चाहेंगे, वह करते हुए सो जायें। निद्रा से पूर्व का नामस्मरण निश्चय ही अभिनिवेश (मृत्यु का भय) की निवृत्ति का अत्युत्तम साधन है। यदि वह हमारे अभ्यास में आ जाए तो अकस्मात् महानिद्रा के आ जाने पर हमें कुछ परेशानी नहीं होगी। छावनियों में सैनिक गण प्रातः सायं जो युद्ध का पूर्वाभ्यास किया करते हैं, उसका भी तो यही उद्देश्य होता है कि किसी समय अचानक युद्ध छिड़ जाये तो सैनिक उसके लिए तैयार रहें। हम भी पूर्वाभ्यास द्वारा मृत्यु के आ जाने पर हमें किसी प्रकार की कोई परेशानी नहीं होगी। हम सब यह जानते हुए कि मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है, इस पर भी उसकी तैयारी नहीं करते। यदि हम परमगति पाने के इच्छुक हैं तो फिर हमें इसकी तैयारी करनी होगी। क्योंकि अन्तिम समय के संस्कार अचानक नहीं बन जाते। उसके लिए तैयारी करनी पड़ती है। गीता में आया है कि अन्तिम घड़ी के संस्कार अभ्यास से बनते हैं। यथा–**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना**। डॉ. सत्यव्रत जी सिद्धांतालंकार ठीक ही कहते हैं कि– "जब हम जीवन के एक-एक क्षण को अन्तिम घड़ी समझेंगे तभी हर क्षण में भगवान् का स्मरण करेंगे और यही अभ्यास, जब जीवन का सचमुच अन्तिम क्षण आ जायेगा, तब हमारा साथ देगा। (श्रीमद्भगवद् गीता, पृष्ठ 281)

आखरी तस्वीर

नाटक के रिहर्सल की समाप्ति नाटक के अन्तिम प्रदर्शन के साथ हुआ करती है। जीवन नाटक के रिहर्सल की समाप्ति भी उनके अन्तिम प्रदर्शन पर ही होगी। नाटक का प्रदर्शन अच्छा हो तो प्रशंसा होती है और भद्दा हो तो चिल्लाहट! हमारे जीवन नाटक का अन्तिम प्रदर्शन उत्तम हो, भद्दा न हो, यह विचारणीय विषय है। यही जीवन का उद्देश्य है। यदि हम सफल हो सके तो बहुत बड़ी उपलब्धि है। लोग हमारे जीवन नाटक के अन्तिम पटाक्षेप को उत्सुकता पूर्वक देखें, यही हमारे रिहर्सल की सफलता है। काश! हम ऐसा कर सकें। प्रभु अंतिम श्वास तक हमारी चेतना बनाये रखे और हम अन्तिम समय में भी यही कहते हुए प्राण छोड़ें कि—

पसीना मौत का माथे पे आया, आईना लाओ।
हम अपनी ज़िन्दगी की आख़री तस्वीर देखेंगे।

हमारी ज़िन्दगी की आखरी तस्वीर अच्छी हो, इसके लिए हमें प्रयत्न करना होगा क्योंकि—

है बुरा रींग-रींग के मरना यारो, अहतराम-ए-जस्त करो।
ज़िन्दगी जितनी खूबसूरत है, उतनी खूबसूरती से मरो॥

हमारी मौत खूबसूरत हो, तो फिर और क्या चाहिए? प्रभु करे हम प्रत्येक को ऐसी खूबसूरत मौत नसीब हो।

लज्जित होकर न जायें

हम प्रभु के दरबार में लज्जित होकर न जायें। पर यह कैसे हो? जब जीवन भर निकृष्ट कर्म किये होंगे तो फिर उसके सम्मुख जाने में लज्जा तो होगी ही। हमें प्रयत्नपूर्वक देखना होगा कि हमारी जीवन चदरी पर कोई दाग़ न लगे। और हम भी सन्त प्रवर कबीर दास की भांति कह सकें कि—

दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

इस प्रसंग में हमें एक दृष्टान्त याद आ जाता है—एक साधु प्रतिदिन प्रातः गंगा स्नान को जाते थे। मार्ग में एक वैश्या का घर पड़ता था। उस साधु की दाढ़ी सफ़ेद थी और बहुत अच्छी लगती

थी। उस वैश्या ने एक कुत्ता पाल रखा था, वह भी सफ़ेद था और देखने में अच्छा लगता था। वैश्या उस साधु को आते देखकर झट दौड़कर अपना कुत्ता गोद में उठा लाती थी और उसकी दुम पर हाथ फेरते हुए साधु से कहा करती थी कि 'बाबा' तुम्हारी दाढ़ी अधिक सफ़ेद है या मेरे कुत्ते की दुम? बाबा मुस्करा कर चल देते थे। जब साधु का अंतिम समय निकट आया तो उसने वैश्या को बुलाने को कहा। लोग अंतिम समय उनकी वैश्या में वृत्ति देखकर आश्चर्य चकित हो रहे थे। पर अन्तिम अभिलाषा की पूर्ति करनी उचित समझ कर वैश्या को बुलाया गया। वैश्या के आने पर साधु ने बड़ी गंभीरता एवं शालीनता से उससे पूछा– 'बेटी! जो प्रश्न तुम नित्य पूछा करती थीं, उसका उत्तर देने का दिन आज आया है। बोल तेरा प्रश्न क्या था? वैश्या मरणासन्न साधु से जीवन भर मज़ाक करने पर शर्मिन्दा थी और क्षमा याचना करने लगी। पर साधु ने कहा–'बेटी मैं तेरा आभारी हूं, जो तू नित्य मुझे चेता दिया करती थी कि मैं अपनी दाढ़ी पर कलिमा न लगने दूं। काजल की कोठरी में कैसा ही सयाना जाए, एकरेखा काजल की लग ही जाती है। पर मैंने बड़ी सावधानी बरती और स्वयं को बचाये रखा। आज जबकि मैं इस संसार से विदा हो रहा हूं, बड़े सन्तोष के साथ कह सकता हूं कि मेरी दाढ़ी निश्चय ही तुम्हारे कुत्ते की दुम से अधिक सफ़ेद है। लोग दंग थे और वैश्या की आंखों में आंसू थे। उसके जीवन की काया पलट होने की घड़ी आ कर उपस्थित हो गई। उसने शेष जीवन धर्म पूर्वक बिताने का व्रत लिया। उसे एक नवीन जीवन मिला था, एक नई ज़िन्दगी मिली थी। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि–

जीने वाले इस तरह जी, मरने वाले ऐसा मर,
दे जाये कुछ सबक तेरी ज़िन्दगी भी मौत भी।

आर्यसमाज के यशस्वी संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन और मृत्यु भी दोनों संसार के लिए महान् शिक्षाप्रद थे। जीवन भर अनेकों पतितों को उबारा अन्तिम समय जाते-जाते एक नास्तिक को आस्तिक शिरोमणि बना गये। जानते हैं कौन था वह महामानव जिसे महर्षि दयानन्द की मृत्यु ने जीवन दान दिया था, वह था मुनिवर

गुरुदत्त विद्यार्थी। जिसे अपनी नास्तिका पर गर्व था। पर नास्तिकता का समर्थक सम्पूर्ण तर्क महर्षि दयानन्द निर्वाण के दृश्यरूप अमृतजल के प्रवाह में बह गया और वे अस्तिकता के प्रबल प्रचारक बन गये। ऐसे महापुरुष मृत्यु से नहीं डरते। उन्हें यदि किसी बात से डर लगता है तो केवल कुकर्मों की कालिमा से ही डर लगता है। वे हाथ उठा-उठा कर यही कहते हैं कि—

'न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्र जन्म समः किल।

अर्थात् मैं मृत्यु से नहीं डरता। यदि डरता हूं तो केवल यश के दूषित हो जाने से ही डरता हूं। यदि मेरा यश कलंकित न हो मेरी कीर्ति शुद्ध बनी रहे, तो मृत्यु मेरी दृष्टि में पुत्र जन्मोत्सव के समान है। वस्तुतः यदि हम दुष्कर्मों से डरेंगे तो फिर मृत्यु से डरना नहीं पड़ेगा। तभी हमारा जीवन भी सफल होगा। और मृत्यु भी। और हम मृत्यु पर विजय दुंदुभि बजाते हुए परमधाम की ओर अग्रसर हो सकेंगे। यही परम पुरुषार्थ है। यही चरम साधना है यदि साध सकें हम।

अन्त में प्रभु से प्रार्थना है कि वह हमें सद् ज्ञान, विवेक और वैराग्य प्रदान करे। और प्रदान करें एक सतत् साधनामय निष्कलंक जीवन ताकि हम मृत्यु के भय को जीतते हुए, मृत्यु का हंसते-हंसते वरण कर, उसकी अमृतमयी गोद के अधिकारी बन सकें।

मृत्यु से संसार के सभी प्राणी द्वेष करते हैं, निन्दा करते, वह इसलिए नहीं कि मृत्यु स्वयं निर्दयी अथवा निन्द्य है। मृत्यु के मुख से कोई लौट कर आज तक नहीं आया जो यह बताये कि वह कैसी है। पर मृत्यु संसार में अप्रिय है तो अपनी अग्रगामी उत्पीड़क रोग आदि के कारण।.....

अखिल वीर विजेता मृत्यु! तू अकेले ही आ।

वीर सावरकर

मृत्यु होती न तो?

नाश की नींव पर नित्य निर्माण नव,
सृष्टि संचालिनी शक्ति करती रही।
काल के वश मिटाये मिटी सृष्टि कब,
जीव जीता रहा देह मरती रही॥

व्याधि आई कि निर्व्याधि हो देर फिर,
मृत्यु आई कि जर्जर बने फिर युवा।
काटते दुर्दिवस मृत्यु के आसरे,
हो दुःखी सृष्टि कुछ धीर धरती रही॥

है अटल विश्व व्यापी सृजन का नियम,
ध्वंस से सृष्टि दूनी उभरती रही।
मृत्यु आती रही मुक्ति का रूप धर,
प्राणी का घोर संताप हरती रही॥

जीव मरता नहीं जन्मता भी नहीं,
एक दिन वृद्ध होती युवा सृष्टि सब।
किन्तु जिससे जवानी मिली सृष्टि को,
क्यों उसी मृत्यु से सृष्टि डरती रही॥

मृत्यु होती न तो छटपटाता जगत्,
विश्व मरता बिना मौत ही बिन मरे।
सृष्टि उपकृत रही है सदा मृत्यु से,
मृत्यु फिर विश्व को क्यों अखरती रही॥

इतना मोह था कि ओझाओं के बहकाने पर उसने अपने युवा पुत्र का कलेजा तक खा डालने में कोई संकोच नहीं किया था। इस पर भी वह मृत्यु से बच नहीं पाया। मुनिवर गुरुदत्त विद्यार्थी एवं जार्ज बरनार्डशा को अपने प्राणों की रक्षा हेतु मांस खाने का परामर्श दिया गया था, यह और बात है कि मृत्यु की अवश्यम्भाविता को देखते हुए इन दोनों महापुरुषों ने उसे अस्वीकार कर दिया था। बरनार्डशा ने तो अपनी वसीयत ही लिख डाली थी कि मेरे मरने पर मेरे जनाज़े के साथ भेड़, बकरियों तथा ऊंटों के रेवड़ हों ताकि लोग जान सकें कि बरनार्डशा ने अपने प्राणों की रक्षा के लिए इन निरीह प्राणियों का वध नहीं होने दिया।

प्राणों का मोह बड़े बड़ों के पथ भ्रष्ट कर देता हैं पर **मुनिवर गुरुदत्त की बात ही निराली थी। इतिहास साक्षी है, उस महामानव का प्रश्न था कि ''क्या मांस खाकर मैं अमर हो जाऊंगा? क्या फिर कभी मरना तो नहीं होगा न?" पर ऐसा आश्वासन भला कौन दे सकता है। अतः उस महामानव ने सुस्पष्ट शब्दों तथा दृढ़ मति से कह दिया कि ''जब मृत्यु सुनिश्चित है तो फिर निरपराध प्राणियों के प्राण लेकर अपराधी क्यों बनूं? अतः वह वीर मृत्यु के यथार्थ स्वरूप का चिन्तन करता हुआ, उसके स्वागत की तैयारियां करने लग गया।** मुंच्चति इति मृत्युः' के अनुसार जो कष्टों क्लेषों से छुड़ा दे, वह मृत्यु है तो फिर मृत्यु का स्वागत क्यों न हो? दुःख है आज हम सब हविशे-जिन्दगी के मारे हुए हैं जबकि कवि का कथन है कि—''उनका जीना भी कोई जीना है, हविशे-जिन्दगी ने जिनको मारा है।'' पर जो भी हो, यह जानते हुए भी कि-मौत अंजामे ज़िन्दगी है मगर लोग मरते हैं ज़िन्दगी के लिए'।

प्राणी मरना क्यों नहीं चाहता?

यह जान लेने पर कि प्राणी मरना नहीं चाहता, इस बात की भी विवेचना कर लेनी आवश्यक है कि प्राणी मरना क्यों नहीं चाहता।